विद्याभूषण भारद्वाज

ततैंया में 15 शीर्षक में बँटी हुई सामग्री है। राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आदि संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार इनमें यत्र-तत्र स्वतः आ गया है। 'ततैंया' में चारों ओर से डंकित व्यक्ति की पीड़ा है तो वार्टर सिस्टम में प्रकाशक-लेखक संबंध उभर कर आया है – एक ओर जहाँ प्रकाशक की मजबूरी है तो दूसरी ओर लेखक भी लाचार है। 'मैच फिक्सिंग थीसिस फिक्सिंग' में हिन्दी शोध जगत की विद्रूपताओं का जिक्र है।

आजकल दो मसले ऐसे हें जो पुरातन होते हुए भी नवीन हैं– अयोध्या विवाद और मँहगाई। मेरी दृष्टि में अयोध्या विवाद कोई खास मसला नहीं, यह बड़ी सरलता से सुलझ सकता है बशर्ते कि इससे राजनीति को शंटआउट कर दिया जाये। धर्म के स्वयंभू ठेकेदार इसे सुलझने नहीं देते, मीडिया इसमें घी की आहुति डालता रहता है, दोनों भाई मिलकर बैठ जाएं तो सुलझ सकता है, कोर्ट कचहरी से कभी नहीं सुलझेगा, डंके की चोट कहता हूँ। दूसरा मुद्दा है मंहगाई– मँहगााई होगी जिसके लिये होगी, उन लोगों के लिये तो बिल्कुल ही नहीं है जो इसका ढिंढोरा पीटते हैं, मंहगााई से जो गरीब त्रस्त है कहीं नहीं शोर मचाता, कभी-कभी दबी आवाज़ में वह कह देता है कि क्या करें बाबूजी मँहगाई ने जीना दूभर कर दिया है। बस यूँ समझ लीजिये कि मँहगाई विपक्ष के नारों में है या फिर हमारी सोच में है।

'पैदाइश एक और कवि की' में दिखाया गया है कि कवि किस प्रकार गढ़े जा रहे हैं, किस प्रकार कवियों की खेती लहलहाती है, 80 के दशक में मध्य प्रदेश में कवियों की बंपर क्रॉप हुई थी, सभी जानते हैं।

इस पुस्तक की आलोचना क्या गुल खिलाएगी, यह तो समय बतायेगा, मैं तो बस इतना यकीन दिलाना चाहता हूँ कि ये पाठक को गुदगुदाएगी, सोचने को मजबूर करेंगी संवेदनशील पाठक को गमगीन करेंगी, उसे अपनी इस लोकतंत्रीय व्यवस्था पर शर्म से अपनी गर्दन झुकाने को लाचार करेंगी।

ततैंया

(व्यंग्य-संग्रह)

डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज
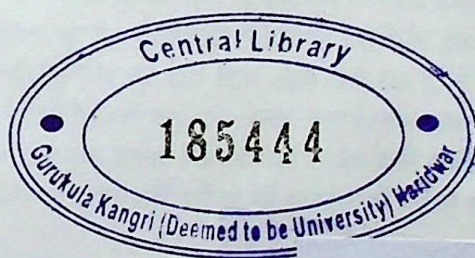
नमन प्रकाशन
नई दिल्ली 110002

पहला संस्करण 2013

ISBN : 978-81-8129-440-1

नमन प्रकाशन
4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
फोन : 23247003, 23254306

श्री नितिन गर्ग द्वारा नमन प्रकाशन नयी दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित
तथा एशियन ऑफसेट प्रेस, दिल्ली-110053 में मुद्रित।

Tatainya by Dr. Vidyabhushan Bharadwaj

अपनी बात

ततैंया में 15 शीर्षक में बँटी हुई सामग्री है। राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आदि संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार इनमें यत्र-तत्र स्वतः आ गया है। 'ततैंया' में चारों ओर से डंकित व्यक्ति की पीड़ा है तो वार्टर सिस्टम में प्रकाशक-लेखक संबंध उभर कर आया! है — एक ओर जहाँ प्रकाशक की मजबूरी है तो दूसरी ओर लेखक भी लाचार है। 'मैच फिक्सिंग थीसिस फिक्सिंग' में हिन्दी शोध जगत की विद्रूपताओं का जिक्र है तो उत्तर पुस्तिका मूल्यांकन में बरती जाने वाली मूल्यांकन पद्धति पर प्रहार है, साथ ही स्पष्ट किया गया है कि एम. ए. के पेपर सैंटरों, विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्षों के बीच गुपचुप तरीके से परीक्षा परिणाम आने से पहले ही तय हो जाता था कि किस छात्र को टॉपर बनाया जाएगा, किसे दूसरे स्थान पर रखा जाएगा, यह सब फिक्स हो जाता था। इसके लिये मुझे कहीं से सामग्री जुटाने का कार्य नहीं करना पड़ा क्योंकि बरसों उच्च कक्षाओं को पढ़ाने के कारण मैं स्वयं इस प्रक्रिया का चश्मदीद गवाह, इसका हिस्सा रहा हूँ। 'साक्षात्कार' में दिखाया गया है कि हमारे यहाँ प्रवक्ताओं की नियुक्ति में मैनेजमेंट का हाथ किस सीमा तक रहा है, मेरे एक परिचित एक कॉलेज के मैनेजर हैं जिन्हें बमुश्किल अपना नाम लिखना आता है— तो मन समझा लेता हूँ कि जब एक अनपढ़ मिनिस्टर बन सकता है तो कॉलेज का मैनेजर क्यों नहीं बन सकता और और कहीं नहीं तो मेरे भारत में तो बन ही सकता है।

हिन्दी साहित्य का शिक्षक रहा हूँ, अतः हिन्दी में यत्र-तत्र आने वाली मनोरंजक गलतियों को नजदीक से देखा है, उन्हें मैंने हिन्दी भाषा का गड़बढ़झाला भाग I II में बाँटा है।

आजकल दो मसले ऐसे हें जो पुरातन होते हुए भी नवीन हैं— अयोध्या विवाद और मँहगाई। मेरी दृष्टि में अयोध्या विवाद कोई खास मसला नहीं, यह बड़ी सरलता से सुलझ सकता है बशर्ते कि इससे राजनीति को शंटआउट कर दिया जाये। धर्म

के स्वयंभू ठेकेदार इसे सुलझने नहीं देते, मीडिया इसमें घी की आहुति डालता रहता है, दोनों भाई मिलकर बैठ जाएं तो सुलझ सकता है, कोर्ट कचहरी से कभी नहीं सुलझेगा, डंके की चोट कहता हूँ। दूसरा मुद्दा है मंहगाई— मँहगााई होगी जिसके लिये होगी, उन लोगों के लिये तो बिल्कुल ही नहीं है जो इसका ढिंढोरा पीटते हैं, मंहगााई से जो गरीब त्रस्त है कहीं नहीं शोर मचाता, कभी-कभी दबी आवाज़ में वह कह देता है कि क्या करें बाबूजी मँहगाई ने जीना दूभर कर दिया है। बस यूँ समझ लीजिये कि मँहगाई विपक्ष के नारों में है या फिर हमारी सोच में है। दस लाख की गाड़ी खरीदने में हमें मँहगाई नज़र नहीं आती, पैट्रोल के दाम एक-दो रुपये बढ़ने पर हम आसमान सिर पर उठा लेते हैं, किसी अच्छे रेस्ट्रॉ, होटल में हम सौ-पचास रुपये बेयरे को टिप दे आते हैं, पर रिक्शेवाले से 5/- पर झगड़ पड़ते हैं।

'पैदाइश एक और कवि की' में दिखाया गया है कि कवि किस प्रकार गढ़े जा रहे हैं, किस प्रकार कवियों की खेती लहलहाती है, 80 के दशक में मध्य प्रदेश में कवियों की बंपर क्रॉप हुई थी, सभी जानते हैं।

इस पुस्तक की आलोचना क्या गुल खिलाएगी, यह तो समय बतायेगा, मैं तो बस इतना यकीन दिलाना चाहता हूँ कि ये पाठक को गुदगुदाएगी, सोचने को मजबूर करेंगी संवेदनशील पाठक को गमगीन करेंगी, उसे अपनी इस लोकतंत्रीय व्यवस्था पर शर्म से अपनी गर्दन झुकाने को लाचार करेंगी।

इस पुस्तक की कुछ रचनाएँ न.भा.टा, अमर उजाला, जनसत्ता, लफ़्ज़ आदि, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। एक विशेष बात और—वार्टर सिस्टम में प्रकाशक लेखक का जो संबंध दिखाया गया है वह मेरे इस प्रकाशक से एकदम भिन्न है, 'वार्टर सिस्टम' में प्रकाशक के यहाँ से तो में अपनी पाण्डुलिपि लेकर लौट आया था, लेकिन श्री नितिन गर्ग से मिलने के बाद मुझे अपनी राय बदल लेनी पड़ी, नमन प्रकाशन उनके व्यक्तित्व के अनुरूप यथा नाम तथा गुण है, उन्होंने मेरी इच्छानुसार इसका प्रकाशन किया और आगे लिखते रहने के लिये मुझे ऊर्जस्वित किया, अतः 'नमन' को मेरा नमन है। आदरणीय भाई प्रफेसर मनमोहन सहगल, श्रीमधुसूदन आनंद का भी उल्लेख करना चाहूँगा जिन्होंने मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी और अपनी सम्मति दी।

स्थान- गाज़ियाबाद, वसुंधरा

डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज

अनुक्रम

ततैंया

चालाकी, हर व्यक्ति का प्रकृत स्वभाव है। व्यक्ति इतना मूर्ख-बुद्धिमान भी होता है कि यह जानते हुए भी कि तेरी चालाकी पकड़ी जाएगी, वह चालाकी पर चालाकी करता जाता है। यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य के हर कर्म के गर्भ में चालाकी बीज-रूप में विद्यमान रहती है। उसका प्रत्येक कर्म सूगर कोटेड अथवा कैप्सूल की तरह होता है, यानी वह अपने कर्म की कटुता पर मिठास चढ़ा कर, सुग्राह्य बनाता है। वह स्वयं को तो धोखा देता ही है, भगवान को भी धोखा देने से बाज नहीं आता। अपनी चालाकी को वह भाँति-भाँति के विशेषणों से अलंकृत करता है—परोपकार, समाज-सेवा, नारी-मुक्ति, हिन्दी-सेवा आदि-आदि में, निश्चित रूप से चालाकी भरी होती है। धार्मिक क्रियाओं, संकीर्तनों, अनुष्ठानों, माता की चौकियों, तीर्थ यात्राओं, नंगे पैर कॉवड़ लाना आदि सब चालाकी से परिपूर्ण होते हैं।

बात भले ही कितने अन्दर की हो, वह कितना भी छिपाए, पर दूसरों के सामने उसका भंडा फूट ही जाता है। आश्चर्य है, सब कुछ समझते हुए भी वह नहीं समझता, अपनी गलतियों पर, अपने दोषों पर पर्दे पर पर्दे डालता चलता है। वह यह एकदम भूल जाता है कि तेरे बेपर्दा होने पर तेरी क्या दशा होगी? इससे वह कोई सीख नहीं लेता। लेकिन मैं हूँ वह बुद्धिमान जिसने इससे शिक्षा ग्रहण की है और उसके लाभ भी प्राप्त किए हैं। इस ज्ञान को मैंने छात्रावस्था में ही प्राप्त कर लिया था। मैं इसे अपना बुद्धिचातुर्य ही मानता हूँ कि अपना दोषोजागर स्वयं ही कर देता हूँ, रंगे हाथों पकड़े जाने से तो बेहतर है।

छात्रावस्था में, सजधज कर रहने की मेरी आदत थी, हर नौजवान क्या हर प्राणी की होती है, चाहे वह बच्चा हो, या बूढ़ा, वह खूबसूरत

ही दिखना चाहता है। इतनी सुविधा मुझे थी नहीं कि सजधज कर रहने के लिए, कपड़ों का अम्बार लगा लेता। दो तीन पतलून, दो तीन कमीज़ें ही थी मेरे पास, उन्हें ही चकाचक रखता था, बनियान की कोई चिन्ता नहीं करता था—अन्दर की बात किसने जानी, फलतः वह प्रायः गन्दी, फटी हुई रहती थी। एक दिन क्लास में बैठा था, गुरुजी पढ़ा रहे थे। मेरी पीठ पीछे, कॉलर के रास्ते, बनियान के भीतर एक ततैंया घुस गया, बेचारा, कहाँ तक अपने स्वभाव के विपरीत, गाँधीवादी बना रहता, उसने मेरी पीठ पीछे डंक मार दिया, "उफ़," "मार दिया," "हाय, हाय," "सी सी" करने लगा। मैं लगभग चीख ही पड़ा था। क्लास में लड़कियाँ भी थी, लाजो हया और डंक-पीड़ा में द्वंद्व हुआ, उठा पटक हुई, डंक-पीड़ा जीत गई, लाजो शरम हार गई। मैंने बराबर वाले लड़के से कहा, "ततैंये ने काट लिया, मार साले को।" न चाहते हुए भी भरी क्लास में मेरे मुँह से ऐसी भाषा निकल गई। सबकी निगाहें मेरी ओर पलटी, फिर भी मेरी कमीज ऑटोमैटिक्ली उतर गई, सब मेरी फटी चिक्कट बनियान को देख रहे थे। राज़ को राज़ न रहने दिया कम्बख्त ने, पता नहीं कौन से जन्म की दुश्मनी निकाली हरामी ने, मेरी अमीरी बेपर्दा हो गई, गरीबी टुकुर-टुकुर ताकती रह गई। गुरुजी ने पूछा, "अरे क्या हुआ?" "ततैंये ने काट लिया।" एक लड़का भाग कर गया, एक गिलास पानी ले आया, देसी नुस्खा अपनाया, अपनी साइकिल की चाबी उसने मेरी पीठ पर रगड़ी, और मुझे पानी पिलाया। मैं सी-सी करता रहा। एकाध को छोड़ सभी लड़के-लड़कियाँ हँस रहे थे। ढोल की पोल खुल गई। तभी रहीम साहब ने उपदेश झाड़ दिया, "बच्चे, मन की पीड़ा मन में ही छिपाकर रखो, बाँटने वाला कोई नहीं मिलेगा, हँसने वाला सारा जग होगा।" लेकिन हर किसी का कोई न कोई अपवाद होता है, कुछ सहपाठी थे जो हँस नहीं रहे थे। ये कवि लोग भी विरोधाभासी उपदेश देते हैं। एक ओर तो पीड़ा को मन में छुपाए रखने का उपदेश देते हैं, दूसरी ओर नयन से आँसू ढरने के भेद के उजागर हो जाने से भी भयाक्रांत हैं, इसलिए आँसुओं को बाहर न निकलने देने की वकालत करते हैं—कृष्ण कन्हैया ने रहीम साहब को बख्शी होगी इतनी ताकत, हम ठहरे इंद्रियदास, किसी पर भी काबू नहीं।

तभी मैंने ठान ली थी कि अपने दोषों को पर्दे में नहीं रहने दूँगा। पर्दा उठ जाने पर, भेद खुल जाने के डर से तो बचा रहूँगा वरना बनी

बनाई इज्जत उसी भाँति उतार ली जाएगी जैसे मुहल्ले के नितांत संभ्रांत दिखने वाले सभ्य आदमी की इज्जत, उन्हें हथकड़ी पहनाकर ले जाते पुलिस मैन द्वारा, एक ही झटके में उतार ली जाती है—झारखण्ड के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री **मधु कोड़ा,** भारत के प्रधानमन्त्री की कुर्सी के हकदारों में से एक नारायण दत्त तिवारी, सपा से धक्का देकर निकाले गए अमर सिंह, बी.जे.पी. से बाय किए गए कल्याण सिंह, मदनलाल खुराना आदि अनेक उदाहरण हैं।

इसका फायदा मुझे आज तक मिल रहा है। कैसा भी पहन लेता हूँ, देखने वाला अपने मन में क्या सोचता है मेरे बारे में, इसकी परवाह मैं क्यों करूँ? मैंने निश्चय किया हुआ है कि यदि मेरे फटे हाल पर कोई तरस भी खाता है तो मैं तुरन्त बोल दूँगा, भैये! मुझे तो शर्म नहीं आती, अगर तुझे, मेरे फटे हाल पर शर्म आती है तो खरीद दे मेरे लिए एक फैंसी सी ड्रेस और डाल दे मेरी मुफलिसी पर पर्दा। वह अपना सा मुँह लेकर चलता बनेगा। मैं जानता हूँ कि वह मेरे लिए क्या, कोई भी किसी के लिए कुछ नहीं करता। ऐसे व्यक्ति से मैं प्रेम पूर्वक यह भी कह सकता हूँ कि भैया! अपनी औकात तो देख ले पहले, किसी के लिए एक कानी कौड़ी तक तो खर्च कर नहीं सकता फिर किसी पर हँसने की हिम्मत कैसे कर लेता है? आपसे रिक्वेस्ट है, अपनी औकात के दर्पण में अपना मुँह देखते रहा करो। तैश में तू तड़ाक पर भी उतर आता हूँ, दूसरे के आकार प्रकार को देखकर फटाक् से नम्र भी बन जाता हूँ, "तू तड़ाक" से "आप" पर भी उतर आता हूँ। इससे भी मुझे फायदा होता है, किसी सवा सेर से पिटने से बच जाता हूँ।

मेरे इस ततैंया-कांड से मुझे एक फायदा और हुआ। मैं "टूट जाऊँगा पर झुकूँगा नहीं" पालिसी पर दृढ़ था। जब मुझे इसमें नुकसान नजर आने लगे तो मैंने झट दलबदलुओं की भाँति पाला बदला और "झुक जाऊँगा पर टूटूँगा नहीं" पालिसी का खेमा ज्वाइन कर लिया। शुरू-शुरू में थोड़ी शर्म आई कि लोग बाग क्या कहेंगे कि जरा सी देर में ही सारी अकड़ धरी की धरी रह गई। पर भला हो बड़े-बड़े दलबदलू दिग्गज नेताओं का जिनसे मुझे एक ऊर्जा, एक स्फूर्ति मिली कि जब इत्ते बड़े नेताओं का मुँह काला न हुआ तो तेरे मुँह पर कौनसी कालिख पुत जाएगी। ये नेता लोग इतने बेशर्म नहीं होते कि इन पर चढ़े न दूजा रंग।

किसी ने मुझसे पूछा कि "फलां नेता किस पार्टी का है?" मैंने कहा, "भाई, कल शाम तक तो बी.जे.पी. में था, अब किसमें हैं, कह नहीं सकता।" "मतलब?" "मतलब यह कि इनकी आत्मा अजर अमर है, नित नए करम-धरम करती है, पुराने करम का त्याग करने में इनकी आत्मा को देर नहीं लगती, रोज नया चोला बदल लेते हैं।"

इस ततैंया कांड से मुझे एक हानि भी हुई। अब पत्नी से आए दिन झगड़ा रहता है। वह अपनी मुफलिसी को ढककर रखना चाहती है, मैं विरोध करता हूँ, फलतः दोनों में तनाव की स्थिति आती रहती है। पत्नी का रवैया कुछ ऐसा है कि कोई मेहमान वगैरह आया नहीं कि वह दौड़कर पड़ौसी के यहाँ पहुँच जाती है और साड़ी के आँचल में छिपाकर उनके यहाँ से प्लेट प्याले ले आती है, बच्चों को लाला के यहाँ से नमकीन, बिस्कुट लाने के लिए दौड़ा देती है। उसे नहीं पता रहता कि लाला का बिल सुरसा के मुँह की भाँति बढ़ता रहता है, भुगतान न होने पर, बनी बनाई इज्जत की बखिया उधेड़ कर रख देने में लाला को एक मिनिट भी नहीं लगेगा। लेकिन अब पत्नी ने हार कर मेरी आदत से तादात्म्य सा कर लिया है। अब मैं यार दोस्तों के सामने झरोखे दार बनियान पहनने, एक प्याला प्लेन टी देने में कोई संकोच नहीं करता। न हुई मेज कुर्सी तो उन्हें चटाई पर ही बिठा लेता हूँ। यदि कोई टाइट पैंट पहने है और उसे चटाई पर बैठने में दिक्कत होती है तो मैं उसे चारपाई पर बिठा देता हूँ। मेरी पीठ पीछे भले ही वे मुझे खूसट, गरीब, कंजूस आदि उपाधियों से विभूषित करें, पर मेरे सामने किसी की हिम्मत नहीं, बल्कि इसके विपरीत, वे मुझे प्रसन्न करने को कह देंगे—"आप तो, सादा जीवन उच्च विचार के, साक्षात् उदाहरण है।"

यद्यपि पत्नी ने काफी हद तक मेरी आदतों से समझौता कर लिया है, पर कुत्ते की दुम 12 साल नलकी में रहने पर भी टेढ़ी ही निकलती है, सीधी नहीं होती। संस्कार एक दम नहीं मरते, उसके अणु, कहीं न कहीं रेंगते मिल जाते हैं। कुछ मामलों में पत्नी की नाक आज भी कटती है, मेरे घरवालों के सामने और विशेषतः अपने घरवालों के सामने। वह अपने मायके वालो के यहाँ बिना गाड़ी के नहीं जाती। कहती हैं, "आज जब भगवान ने हमारे घर में गाड़ी दे दी है तो बसों में लटक कर जाता देख दुनिया हमें क्या कहेंगी?" मैं कहता, "मेरा लाइसेंस गुम हो गया है,

विना लाइसेंस मैं गाड़ी नहीं चला सकता।" तुरन्त जवाब मिलता है। "ड्राइवर बुला लो।" "ड्राइवर वक्त पर नहीं मिलता।" "तो आप ही ड्राइव कर लो, इस उमर में कौन आपका लाइसेंस देखेगा?" मैं कहता, "यह दिल्ली पुलिस है, यू.पी. की तरह ढीली-ढाली नहीं। दिल्ली की पुलिस का पेट बहुत बड़ा है, वे नहीं छोड़ते किसी को, अगर छोड़ेंगे भी तो खाली नहीं छोड़ेंगे, 2-3 सौ की चपत तो फिर भी लग ही जाएगी।'' शुक्र है हमारी यू.पी. पुलिस का पेट इतना बड़ा नहीं। वे अपनी नजर को कष्ट देना नहीं चाहते—स्कूटर, बाइक वाला बिना हैलमेट पहने, दो-दो, तीन-तीन को नंगे सिर बिठाए लालबत्ती तक की परवाह किए बिना, फटाक् से निकल जाता है, इसका कारण है कि हमारे यू.पी. के लौंडे दिलेर भी होते हैं, दिल्ली वालों की तरह डरपोक नहीं होते कि सड़क पर सिपाही दिखाई दिया नहीं कि उन्होंने तुरंत स्कूटर रोक हैलमेट पहन लिया, हमारे यहाँ के तो पुलिसवालों के सामने खास तौर पर, सीना तान कर, पुलिसवालों की टिली-टिली झर्र करते हुए निकल जाते हैं, इसके अलावा हमारे यू. पी. के पुलिसवाले उतने निर्दयी भी नहीं होते, वे सोचते हैं, इन लौंडों का क्या बिगड़ेगा, जुर्माना तो भरना पड़ेगा गरीब माँ-बाप को, इसी परोपकारी भावना के वशीभूत वे ऐसे लौंडों का चालान नहीं काटते। पर पत्नी है कि लाख समझाने पर भी नहीं समझती, कहती है, "दिल्ली पुलिस में भी बहुत से नरम दिल मिल जाते हैं, आप चलो तो सही।" मैं नहीं मानता तो वह बेटे की इज्जत को दाँव पर लगाती सी कहती है, "कोई क्या थूकेगा हमारे बेटे के मुँह पर, कि खुद तो कार में घूमता फिरता है वीवी को लिए और माँ-बाप बस में लटके फिर रहे हैं।" बस यहाँ आकर मैं हार मान लेता हूँ। लेकिन काफी हद तक अब उनकी दिखावे की आदत छूट गई है कि पड़ौसी के घर से प्लेट प्याले चुपचाप ले आती थी अथवा प्रभु कृपा से अब उसकी जरूरत महसूस नहीं होती।

ततैंया-कांड से एक और परिवर्तन आया। कह नहीं सकता कि यह हानि है या लाभ? जिन-जिन के साथ अटूट समझी जाने वाली मित्रता थी, जिन जिनकी मैंने अपनी मुफलिसी के कारण, पत्नी के गहने तक बेचकर उनकी मुफलिसी पर पर्दा डालते हुए, उनकी सहायता की थी, उन उन ने ही मेरे कठिन दिनों में, समर्थ होने पर भी मेरी छोटी सी डिमांड को बहाने से टाल दिया था। डिमांड कोई भी कोई खास नहीं, बस कुछ दिनों के

लिए उससे उसका, कैमरा माँगा था, मैं कहीं बाहर जा रहा था। यह बात नहीं कि उसने कैमरा देने की नहीं सोची। उसने सोचा और अपने दफ्तर में प्रातः दस बजे से संध्या 5 बजे तक पूरे टाइम मुझे उत्तर देने के लिए बिठाए रखा। इस बीच वह बराबर सोचता रहा, उसके भीतर संघर्ष चलता रहा कि कैमरा दूँ या न दूँ। आखिर जातीय गुण उस पर हावी हो गए और उसने आखिर हारकर कह ही दिया, "अफसोस, यार मैं कैमरा नहीं दे पाऊँगा।" मैं ही जानता हूँ कि मैंने उस वक्त अपने आँसुओं को किस प्रकार रोका? मुझे वैसा ही लगा जैसे मेरे अपने की अकाल मृत्यु हो गई हो और मेरे सामने छात्रावस्था का वह दृश्य घूम गया जब एक दिन सर्दी बहुत पड़ रही थी, उसके पास कोट नहीं था, मैंने अपना कोट उतारा और उसे यह कहते हुए अपना कोट पहना दिया कि ले यार, इसे तू पहन ले, मुझे इसकी यह सिलाई पसन्द नहीं, मुझे यह कोट अच्छा नहीं लगता। तब से मेरा विश्वास पक्का हो गया कि मनुष्य पर उसके जातिगत संस्कारों का असर कुछ न कुछ रहता अवश्य है। फिर उससे मिलना जुलना न चाहते हुए भी खत्म हो गया। वर्षों बाद मुझे पता चला कि अचानक ही वह हार्ट अटैक का शिकार हो, दिवंगत हो गया। सुनते ही मेरे नेत्रों से कुछ बूँदें टपक पड़ीं। मुझे आज भी वह याद आता है, प्रभु उसकी आत्मा को शान्ति दे। भूलना चाहूँ तो भी उसे घरवाले भूलने नहीं देते। अक्सर मेरी मूर्खता सिद्ध करने के लिए मेरे घर के प्राणी, मेरे सामने उसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लेकिन मैं हूँ कि आज तक सीख न ले पाया और अक्सर ठगा जाता हूँ। कोई एक परिचित मेरे पास आया। उसने अपनी मजबूरी बतायी और एक हजार रुपए की डिमांड मेरे सामने रखी।

मैं पत्नी से पूछता हूँ, "एक हजार रुपए की ही तो बात है, लौटा देगा, हमें उसकी सहायता करनी चाहिए।" पत्नी से ऊपर उठकर उसे एक हजार रुपए दे देता हूँ और वह फिर लौटकर नहीं आता। पत्नी ताने मारती है, "लौटा दिए उसने तुम्हारे एक हजार रुपए, मेरी तो सुनते नहीं, यूँ ही बेवकूफ बनते रहे हो, बनते रहोगे।" मैं उसे चालाकी से समझाता हूँ, "देखो सुनो, हम अब भी फायदे में हैं, एक मूर्ख यार से पीछा छूट गया।" वह कहती मूर्ख तुम हो या वह जो एक हजार रुपए ठग कर ले गया। मैं कहता वह मूर्ख है, उसमें जरा भी अक्ल होती तो वह एक हजार

रुपए वापस करता और अपनी ईमानदारी का सिक्का जमाता, मैं कहता देखा कितना ईमानदार है, कौल का पक्का है, एक महीने में लौटाने की कहकर ले गया था, 20 दिनों में ही लौटा गया। फिर कुछ दिनों बाद आता और दो हजार ले जाता, फिर समय पर लौटा जाता, इसी प्रकार वह हर बार पहले से अधिक रुपयों की माँग करता, फिर तुम भी कह देती कि दे दो ईमानदार है, लौटा तो जाता ही है और एक दिन वह आता, जब वह लड़की की शादी का बहाना मारकर 30-40 हजार की बात करता, तब तुम भी कह देतीं, दे दो लड़की के विवाह की बात है, लौटा तो देगा ही और फिर वह कभी नहीं लौटता। तुम्हारे सामने भी मन समझाने के अलावा कोई चारा नहीं होता। तब तुम भी कहती, चलो, हम समझेंगे कन्यादान में दे दिए। इसीलिए कहता हूँ कि वह मूर्ख था, एक हजार में ही हमारा पीछा छूट गया। हिसाब लगाओ कि हमने 30-40 हजार न गँवा कर एक हजार में ही पीछा छुड़ा लिया। अब लगाओ हिसाब कि हम कितने फायदे में रहे? मैंने शुरू-शुरू में ही कहा था न कि आदमी अपनी चालाकी से बाज नहीं आता। वह स्वयं को भी धोखा देता रहता है। पत्नी इस पर तरह-तरह की बातें सुन ताने मारती है, "शेखचिल्ली भी शायद ऐसे ही हिसाब लगाकर सन्तुष्ट होता रहा होगा।"

मेरी मित्र मंडली में, ऐसे कई एक मित्र और हैं, सभी याद आते हैं, किस-किस के किस्से सुनाऊँ? ततैंयों के छत्ते में बिना बात हाथ क्यों डालूँ? लाभ तो होने से रहा। फिर भी ततैंयों के डंक से कहाँ तक बचूँगा। प्रातः से सायं तक किस-किसके डंक सहन करता हूँ। सब्जी वाले से भाव पूछता हूँ तो वह चाहता है कि पूछा है तो खरीदो जरूर वरना, उल्टी-पुल्टी उक्तियों का स्वाद चखो, "चलो, चलो बड़े आए सेब खरीदने वाले।" फलवाला आँखों-आँखों में कहता है, "औकात तो बासी अमरूद तक खरीदने की नहीं, भाव पूछते हैं डेलिसन सेबों के," ऐसे भी फलवाले मिलते हैं जो डंडी मारते हुए पकड़ लिए जाने पर हाथ से इशारा करते हुए कहेंगे, "आगे बढ़िए, जहाँ से सस्ते मिले ले लीजिए।" दूधवाला, अपनी आदत से मजबूर, "अच्छा बाबूजी, आगे से ध्यान रखूँगा।" मैं कहता, "भई, तू दो रुपए लीटर ज्यादा ले ले, पर दूध में पानी न मिलाया कर," वह हाँ कर लेता है पर पानी मिलाना नहीं भूलता मेरा 50-60 साल का अनुभव यही है कि आप शुद्ध दूध के, मार्केट रेट से 2, 4 रुपए प्रति

लीटर ज्यादा भी देंगे तो भी दूध असली नहीं मिलेगा। मैंने आखिर हार कर दूधियों की पानी मिलाने की चुनौती को स्वीकार किया और दूध लेने उसके घर जाने लगा और अपनी आँखों के सामने दूध नपवा कर लाने लगा। दूधिया ईमानदार दिखाई दिया, वह डिब्बे से नाप-नाप कर दूध मेरे डिब्बे में डालता, और बाद में थोड़ा सा दूध और डाल देता, मैं खुश कि असली तो है ही, थोड़ा अधिक भी है। मैं मूछों पर ताव देता घर पहुँचता, पत्नी से कहता कि "लो, अब असली दूध पीओ।" पत्नी अपने डिब्बे से नापती तो दो लीटर में वह पौने दो लीटर से कम बैठता, झाग तब तक मर चुके होते थे। मैंने आखिरकार असली दूध पीने का लालच छोड़ दिया और टोंड दूध पर आ गया, चालाकी से मन को समझाया, कि इस उमर में टोंड दूध ही पीना चाहिए, पानी मिला दूध पीने से टोंड न पिया जाए, कम से कम पैसे तो बचेंगे। लब्बो लुआब यह है कि मैंने दूधियाओं के डंक के सामने हार मान ली। नौकरानी के डंक वाया पत्नी मुझे लगते रहते हैं, नौकरानी हमारे घर में एक क्लेश की जड़ बन गई है—"देखो जी, नौकरानी यह सफाई करती है," पत्नी गैस चूल्हे पर अँगुली फिरा कर अपनी अँगुली दिखाते हुए मुझे कहती है, पोंछा भी बिना निचोड़े गीला लगाती है, वह जानती है कौन बार-बार पोंछे को पानी में डुबोए, फिर निचोड़े , फिर डुबोए, फिर निचोड़े, अतः वह पोंछा पानी में डुबोती है और सारे आँगन, कमरों में फिरा कर पानी में डुबाए पोंछे से ही काम चला लेती है। पत्नी शिकायत करती है, मँजे हुए गिलास में साबुन या दूध लगा हुआ दिखाती है, कहती है, "ये माँजा है उसने गिलास।" मैं झुंझला कर कहता हूँ, "तो बदल दो नौकरानी।" वह बदल देती है, वही शिकायतें, फिर नौकरानी की बदली, गर्ज की साल भर में 5-6 नौकरानी बदली जा चुकी हैं। हार कर वह नौकरानी के डंक मारने से अभिशप्त है और मैं पत्नी के डंकों से। एक दिन मैंने अपनी चतुराई का परिचय देते हुए कहा कि इस बार मैं बात करूँगा नौकरानी से। नई नौकरानी आई, मैंने पूछा, "काम ठीक से करना होगा?" "क्या मुझे अपने बच्चे नहीं पालने?" मैंने कहा, "ठीक है, इतने काम के औरों से क्या लेती हो?" "आठ सौ रुपए।" "मैं तुम्हें नौ सौ रुपए दूँगा पर काम ठीक-ठाक होना चाहिए।" "आप बेफिकर रहो बाबूजी।" दो-चार दिन काम ठीक-ठाक किया, पर इसी बीच बोली, "आण्टी, सर्दी बहुत पड़ रही है, चार बच्चे हैं, आदमी कुछ करता नहीं,

बस एक ही कम्बल है हमारे पास। उसे एक कम्बल दे दिया। "आण्टी, कोई साड़ी हो तो दे दो," साड़ी दे दी। आशय है कि काफी कुछ उसने ले लिया। फिर छुट्टी मारने लगी, काम करने की उपेक्षा करने लगी और एक महीना भी नहीं हुआ था कि बोली, "आण्टी यह चिक-चिक मुझे पसन्द नहीं। मेरा काम पसन्द न हो तो कोई और बदल लो नौकरानी, आपको नौकरानी बहुत, मुझे काम बहुत।" और छोड़कर चली गई। पत्नी के डंक सहने पड़े अलग से। "लीजिए, धरी रह गई आपकी अक्लमंदी।" आखिरकार स्थिति यहाँ तक पहुँची कि आप कुछ भी कर लो, नौकरानी अपने अनुसार ही काम करेगी, जब चाहेगी छुट्टी मारेगी, जब चाहेगी, आएगी, जब चाहेगी छोड़कर चली जाएगी। अपने सभी साथियों से जब इस विषय पर चर्चा छिड़ जाती है तो सभी एक ही दर्द से कराहते दिखाई देते हैं।

सारांश है कि प्रातः से संध्या तक आप ततैंयों के झुंड में रहते हैं, उनके डंक सहते रहने की आपकी विवशता है—दूधिया, पेट्रोल, बस, ऑटो, परचूनियाँ, फल सब्जी वाला, धोबी, प्रेस करने वाला, हर जगह आपको डंक सहने पड़ेंगे, और मान लीजिए आप रिटायर हो घर में ही पड़े रहें तो भी आपको डंक सहने पड़ेंगे, पत्नी के, बच्चों के, यार दोस्तों के। आखिरकार व्यक्ति मात्र इसी तलाश में यमलोक प्रस्थान कर जाता है कि शायद वहाँ तो इन डंकों से निजात मिलेगी।

चलते-चलते इस बात का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ कि ततैंये दो प्रकार के होते हैं—पीले ततैंये और लाल ततैंये। अभी तक जितने भी ततैंये दिखाए गए हैं वे सब पीले ततैंये थे, लाल ततैंये ज्यादा खतरनाक होते हैं, उनके डंक की पीड़ा असह्य होती है। विडम्बना यही है कि लाल ततैंये अपने भीतर के ही होते हैं, पीले सब बाहर के। पीले ततैंयों का डंक सह्य होता है, लाल का असह्य! व्यक्ति को लाल ततैंये ज्यादा डंक मारते हैं, पीले उतना नहीं। अतः सहे जाना उसकी नियति है, जिससे वह बच नहीं सकता।

●

पैदाइश एक और कवि की

के. सिंह मेरा लंगोटिया यार है। गाँव में उसे सब खचेड़ू कहा करते थे। मैं अक्सर खचेड़ू की माँ को छेड़ा करता था, "चाच्ची, ये क्या नाम रखा है तूने, खचेड़ू भी कोई नाम होता है, न सुनने में अच्छा लगे न बोलने में।" चाची चुप! मैं फिर बोलता था, "और कोई नाम नहीं सूझा तुझे?" "ना बेट्टा, नाम धर दिया सो धर दिया। नाम कोई मामुल्ली चीज़ नहीं जो तल्लाक़ की ढाळ जिब चाहो तव दे दो, यू नेम धरम की बात है।"

मैं चाची को फिर छेड़ता था, "चाच्ची, बदल दे नाम, कोई सोहणा-सा नाम रख दे।" चाची कुछ रोष-सा दिखाकर कहती थी, "काल नै तू कहैगा कि चाच्ची, चाच्चा नै बदल दे, काळा-कलूट्टा है,...काळा कलुट्टा होगा तेरे लिए, मेरा तो वो किसन कनैया है, उसतै प्यारा ना लगै मनै कोई, यूई बात मेरे खचेड़ू में है, मेरे काळजे का टुकड़ा है मेरा खचेड़ू, इसतै सोहणा ना कोई मेरे लिए संसार में।"

"मैं भी नहीं चाच्ची?" "अरै तू भी सोहणा है। लाल्ला रे तनै पता नहीं कि क्युँक्कर क्युँक्कर लिया मनै खचेड़ू? खचेड़ू तै पहलै मेरे कई बाळक जात्ते रहे थे। एक दिन फैफो नाण (नायन) बोल्ली, 'चौधरण, इबकै जिब बाळक होगा, मनै बुलालियो, मैं कुछ जतन करूँगी।' खचेड़ू के होण में नाण आई, खचेड़ू के जन्मतेई उन्नै खचेड़ू कू छाज मैं लुटाया और खींचकै ले गई भगवान जी की मूरत के आग्गै, 'पिरभू, आँख खोलतेई, यह तेरे दरसन सबतै पहले कर्रा है, इसकी लम्बी उमर करियो, मेरी उमर भी इसै ई दे दियो।' " चाची आगे बोली, "बस फैफो नाण की तरकीब और पिरभू की किरपा से मेरा खचेड़ू बच ग्या, छाज मैं खिच्चण (खींचने) की वजह तै इसका नाम खचेड़ू रख दिया।"

मैं और खचेड़ू पढ़ने शहर चले आए। कक्षा के विद्यार्थी एक

अजीब-सी मुस्कान के साथ खचेडू कहकर उसे बिना बात भी बुलाते थे, आनन्दित होते थे। हाईस्कूल के पश्चात् स्कूल बदलकर हम दोनों ने एक प्रतिष्ठित इंटर कॉलेज में दाखिला ले लिया और खचेडू ने अपना नाम बदलकर के. सिंह रख लिया। मैंने उसे बहुत समझाया और एक दिन उससे बोला, "खचेडू, एक बात बता, तेरा नाम किसने रखा है?" "माँ बाप ने और किसने?" "फिर माँ-वाप के किए पर तू शर्मिन्दा क्यूँ होता है?" "शर्मिन्दा तो इंसान को अपने किए पर होना चाहिए।" मेरी सीख का उस पर कोई असर नहीं हुआ, लड़कों के व्यंग्य-बाणों को वह झेल नहीं सका और के. सिंह पर अड़ा रहा और खचेडू का रूपान्तरण हो गया। हम आगे चलकर अपने-अपने चयनित मार्गों पर चल पड़े। काफ़ी दिनों बाद के. सिंह एक दिन सुबह-सुबह ही मेरे घर आ धमका। बोला, "यार तू हिन्दी का मास्टर है, कुछ कविता-वविता क्यूँ नहीं कर लिया करता?" मैंने कहा, "कविता करके मैं क्या करता, कविता करके तुलसी न लसे?" वह बोला, "तू लसेगा, बहुत लोग लस रहे हैं। हिन्दी का हर मास्टर कम-से-कम कविता तो लिख ही लेता है, फिर उन्हें छपवा भी लेता है, अपने पैसे से ही सही और अपनी पुस्तक की प्रतियाँ भेंट दे-देकर कवियों की पंक्ति में घुस पड़ता है। तू भी क्यों नहीं मार लेता कविता का मैदान? इसके लिए किसी खास फ़ार्मूले की आवश्यकता नहीं, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेटेस्ट कविताओं से कुछ फैशनेबिल शब्दों को मिलाकर, एक कागज़ पर जड़ते जाओ, शब्दों के आगे आड़ी-टेढ़ी रेखा खींचते जाओ, जैसे—कैक्टस का जंगल/भटकते गुलमोहर/थका हुआ हिमालय/जुगाली करती भैंस/जोहड़ का दर्द—यह बन गई एक कविता। दूसरा नमूना देख—फटा हुआ आसमान/हड्डी-हड्डी अंगिया/उगता सूरज/ढलती पूनो/आमने-सामने/गीला पायजामा/खानदानी दवाखाना/' बस तू देखेगा कि इसी तरह कविता बन जाएगी।" उसकी बात हँसी में उड़ाते हुए मैंने कहा, "अच्छा देखूँगा।"

खचेडू चला गया। मुझे लगा जैसे मेरे भीतर भी कविता की एक नस है जो सूखी पड़ी है। खचेडू जैसे उसमें फूँक भर गया। मेरी नस में एक फड़कन शुरू हुई जैसे मेरी कुंडलिनी जाग्रत हो गई। खचेडू के फार्मूले के मुताबिक मैंने कविता बनानी शुरू की, पर वह नहीं बनी। मैंने दूसरे दिन उससे पूछा, "यार! जैसा तूने कहा था, वैसा किया पर कविता तो

नहीं बनी।" खचेड़ू कुछ सोचता-बोला, "दाढ़ी बढ़ाई थी?" "नहीं।" "पैंट के ऊपर बिना प्रेस का कुर्ता पहना था?" "नहीं।" "तिड़की हुई-सी चप्पलें पहनी थीं?" "नहीं।" "सिगरेट के धुएँ के छल्ले उड़ाए थे?" "नहीं।" "तब क्या खाक कविता लिखेगा?"

"फिर मैं क्या करूँ?" मैंने उदासी भरे स्वर में कहा, "पहले तो आग लगा गया, अब इसका कोई उपाय तो बता।" खचेड़ू बोला, "देख, मैं तेरी तरह निठल्ला तो हूँ नहीं कि घंटा दो घंटा, बालकों को बहका दिया और पैर फैलाकर सो गया। मुझे तो भाई रोज़ सुबह ही घर से निकलना पड़ता है, और शाम तक कम-से-कम एक हजार रुपए लेकर लौटने की कसम पूरी करनी पड़ती है।" मैं चौंधिया गया, बोला, "एक हजार रोज़, तीस हज़ार रुपए महीना, क्या करता है तू?" "धूल फाँकता हूँ बाज़ारों की, एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट का बिजनेस करता हूँ, बाजार से कुछ उल्टी-सीधी, कंडम चीजें कौड़ियों के भाव लेता हूँ, उस पर एंटीक का ठप्पा लगाकर, उन पैसे वालों को राहत की साँस लेने का मौका देता हूँ, जिनकी जेब से दस-बीस हजार रोज़ के खर्च हो जाने पर उन्हें जैसे राहत मिलती है। इंकमटैक्स के छापे के डर से उन्हें नींद नहीं आती, नोटों की जितनी गड्डियाँ उनके तहखाने से खिसकेंगी, उतनी ही उन्हें राहत मिलेगी। दिल्ली में ऐसे लोगों की संख्या बेशुमार है, जो पैसा फूँक-फूँककर मौज मनाते रहते हैं, दस-बीस हजार में उन्हें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। मतलब यह है कि मैं एवरेजन एक हजार रुपए रोज कमाता हूँ, हाँ इसमें मेरी मेहनत और अक्ल—दोनों का योगदान होता है। इसका ज्ञान मुझे हो गया कि कौन-सी चीज़ रिटर्न देगी। अब तू जा और अगले रविवार को आना।" खचेड़ू ने शीशे के सामने टाई बाँधते हुए अपने ड्राइवर को आवाज़ लगाई।

चूँकि इन दिनों मैंने हाड़तोड़ परिश्रम किया था, कॉलेज से छुट्टी भी ले ली थी, इसलिए मैंने खचेड़ू की बात मानते हुए दाढ़ी बढ़ा ली, दम तोड़ती चप्पलों पर सवार हो, हाथ में सिगरेट ली और कन्धे पर थैला लटकाकर पहुँच गया खचेड़ू के घर। खचेड़ू मुझे देखते ही हिनहिनाता-सा बोला, "यह हुई ना बात, चल कॉफी हाउस चलेंगे। आज रविवार है, ठीक दिन आया।"

हम दोनों कॉफी हाउस पहुँच एक खाली मेज पर डट गए। जेब से

सिगरेट निकालते हुए खचेड़ू ने कहा, ले सिगरेट सुलगा और जोर का कश खींच, मुँह ऊपर को उठा और छल्ले बनाता हुआ धुआँ ऊपर को छोड़, और चेहरे पर ऐसा भाव ला जैसे उन छल्लों में जीवन की सारी विभीषिका लिपटकर उड़ी जा रही हो।''

मैंने वैसा ही किया। खचेड़ू ने पूछा, ''कैसा लग रहा है?'' मैंने कहा, ''अच्छा लग रहा है।'' वह बोला, ''दो-चार कश और मारोगे तो तुम महसूसोगे कि ''तुम्हारा कवि उठता हुआ चला ऊपर, केवल अम्बर, सूझता नहीं क्या उर्ध्व अधर, यह जीवन क्षर।'' मदारी के हुकुम पर जमूरा जैसे-जैसे करता है, मैं भी खचेड़ू के मुताबिक वैसे-वैसे करता रहा। खचेड़ू धीरे-से बोला, ''अभी थोड़ी देर में ही कुछ यार लोग आ डटेंगे तुम्हारी मेज पर। फिर सिद्ध-साथक न्याय से वे तुम्हारा अभिषेक करेंगे और फिर निराला के स्वर में बोलेंगे, ''देशकाल के शर से बिंधकर, यह जागा कवि अशेष छविधर, इसका स्वर भर भारती मुखर होएगी।'' फिर उसे एक नया नाम देंगे। समकालीन कविता आदि नाम तो पुराने पड़ गए, कुछ नया जैसे नंगी कविता, ऐंचकतानी कविता, ऐंडीबैंडी कविता, धाँसू कविता या कुछ और जो उन्हें स्वादिष्ट लगे। इस प्रकार एक नई कविता तुम्हारे गर्भ से जन्म ले चुकी होगी और देखते ही देखते कवियों के जंगल में एक और कवि उग आएगा। बिल्ली के भागों छीका टूटा और कहीं वह एम.पी में जनम गया तो खूब चमकदमक जाएगा।

भारत के इस प्रान्त में अस्सी के दशक में कवियों की बम्पर क्रॉप हुई थी और अशोक की छाया तले कवियों का जमावड़ा खूब फला-फूला। थोड़े विराम के बाद खचेड़ू ने फिर बोलना शुरू किया, ''ले यह पट्टी इसे आँखों पर बाँध से।'' मैंने वैसा ही किया। कहे मुताबिक एक-एक शब्द बोलता गया, खचेड़ू उन्हें कागज़ पर जड़ता गया– ''वक्त की दीवार/उखड़ा हुआ प्लास्टर/तेंदू के पत्ते/बीड़ी का व्यापार/एम.पी. के सेठ/आदिवासी-अस्मत/लाज के चीथड़े/जवानी की दरार/एड्स का राक्षस/'' खचेड़ू खुशी से उछल पड़ा, ''बहुत बढ़िया कविता बन गई।'' मैंने पूछा, ''इसका अर्थ क्या है?'' खचेड़ू तुनककर बोला, ''अर्थ? अबे लिखे भी तू ही और अर्थ भी तू ही करे? पाठक क्या उल्लू का पट्ठा है? वह लगाता फिरेगा अर्थ अपने आप।''

मैंने कहा, ''इतना काफ़ी है या कुछ और जुगत भिड़ानी पड़ेगी?''

खचेड़ू ने कहा, "इसके बिना काम नहीं चलेगा।" "कविवर जतना राखिए, बिनाजतन सब सून। जतन बिना ना ऊबरै, पत्र-पत्रिका ट्यून", "सुन तो भइया के. सिंह. मैं ठहरा हिन्दी का प्राध्यापक कैसे भिड़ाऊँ जुगत? दुनियादारी आती नहीं, बहका किसी को सकता नहीं।" "बालकों को भी नहीं?" खचेड़ू बात काटकर बोला। मैंने कहा "बालकों को बहकाना और बात है, बच्चों के किसी प्रश्न का उत्तर देते नहीं बनता तो एक जोर की डाँट पिलाता हूँ", "बैठ जाओ, इतना भी नहीं समझते नालायक कहीं के, इतनी बड़ी कक्षा के विद्यार्थी हो गए और प्रश्न पूछते हो प्राइमरी स्तर के, मूर्ख कहीं के। छात्र शान्त और मैं जान बची तो लाखों पाए।" खचेड़ू बोला और कुछ नहीं, बस कभी-कभी जे.एन.यू. के चक्कर काट आया कर। आज कविता के लिए तो कम-से-कम जे.एन.यू. की हवा क़ाफ़ी मुफ़ीद है।

मैंने कहा, "ठीक है, यह भी सही, हारूँगा, झख मारूँगा, यह भी करूँगा, कवि जो बनना ठहरा।"

कॉफी हाउस से बाहर धकियाए जाने का समय जब सिर पर मँडराने लगा तो खचेड़ू बोला, "उठ, घर चल। तू यहाँ एकाध हफ़्ता नियम से आता रह। कुछ दिनों बाद तू महसूसेगा कि तू एक खास गैंग का मेम्बर बन गया है, फिर देखना कैसे धड़ाधड़ छपती हैं तेरी कविताएँ। भैया, गैंग बनाकर चलेगा, तभी उद्धार है, वरना जोहड़ के गन्दे पानी में भैंस की तरह यूँ ही डुबकी लगाता रहेगा।

मैं कुछ इतना प्रसन्न हुआ कि वैशाख के महीने में हरी घास देखकर वैशाखनन्दन भी क्या होता होगा। मेरे मुख मंडल पर ऐसी कान्ति आ धमकी जैसे जानलेवा प्रसव पीड़ा के खत्म होते-होते थाली बजने से, प्रसूता के मुखमंडल पर आ विराजती है, जैसे मेरी गोद में भी कवि-शिशु हाऊँ हाऊँ कर रहा है।

(इसका संक्षिप्त अंश नभाटा में प्रकाशित हुआ)

●

कवि पुंगव खचर सिंह 'खचर'

डा. खचर सिंह 'खचर', मेरे साथी हिन्दी-प्रवक्ता एक दिन बोले, "बन्धु हम लोगों के लिए बड़ी लज्जा की बात है कि हम इतने पुराने प्रवक्ता हो गए और हमारी एक भी काव्य-कृति प्रकाशित नहीं हुई। "ठीक कहते हो मित्र, पर किया क्या जा सकता है, फिर मैं तो कवि नहीं, जो मुझे मलाल हो।" उन्होंने मुझे पंपित किया, "क्यूँ नहीं कवि हैं आप? दशकों से हिन्दी-प्राध्यापनरत हैं और पी-एच.डी. हैं, फिर भी कविता न लिखें, कोई क्या कहेगा?" "क्या डूब मरूँ इस शर्म के कारण?" मैंने थोड़ा रोषित होते हुए कहा। "आप तो अन्यथा लेने लगे बन्धु, महाविद्यालय की भी तो कोई गरिमा होती है कि नहीं, कोई क्या कहेगा कि इतना बड़ा महाविद्यालय और इसमें एक भी कवि नहीं?" वे उदास हो गए। मैंने उन्हें ढाढस बँधाया, कहा, "है क्यों नहीं कोई कवि, इस कॉलेज में? आप हैं ना।" वे झेंपते से बोले, "आपके अतिरिक्त कौन जानता है कि मैं कवि हूँ, जब तक मेरी कोई काव्य-कृति प्रकाशित न हो जाए, तब तक कौन मानेगा मुझे कवि?" "मतलब?" "मतलब यह कि मेरे नाम से कोई काव्य-कृति प्रकाशित होनी चाहिए। प्रत्येक कार्य के लिए एक प्रमाण पत्र की अनिवार्यता होती है कि नहीं? बिना किसी प्रकाशित काव्य-कृति के, कौन स्वीकार करेगा मुझे कवि?" उदासित होते हुए वे बोले, "समझ नहीं आता किस प्रकार सेवा करूँ हिन्दी की?" उन्हें फिर से ढाढस बँधाते हुए, एक मार्ग सुझाया, "आप, 'कवि-प्रकाश, प्रकाशक' से मिलो, दिल्ली में रहते हैं, बड़े कृपालु, दयालु हैं, प्रकाशित कर देंगे आपका कविता-संग्रह, बशर्ते कि आप उन्हें दयार्द्र कर सकें।" "वो किस प्रकार होगा?" उन्होंने उत्सुकता से पूछा। मैंने, पीछा छुड़ाऊ उत्तर दिया, "बस कुछ नहीं उन्हें अपना धाँसू सा परिचय दे दीजिए और देखिए कि—प्रकाशित करते हैं या

नहीं, अवश्य करेंगे।" मैं शुद्ध हिन्दी में ही उनसे बतियाने का प्रयास करता था क्योंकि मेरी एक पॉलिसी है—यदि कोई आपकी किसी आदत से प्रसन्न होता है तो कर दीजिए उसे प्रसन्न, यह किसी अपीज़मेंट-पॉलिसी के अन्तर्गत नहीं आएगा क्योंकि इसमें कहीं भी आपकी स्वार्थ-पूर्ति की भावना नहीं झलकती, विशुद्ध परोपकारी भावना है।

मेरे सुझाव से वे "ऊर्जस्वित हुए" मुझे लगा 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठे मनु अश्रुपूरित नेत्रों से प्रलय-प्रवाह देख चिन्ता-अन्धकार से घिरे हैं, मेरे ढाढसावलंबन से, प्राची से आशा का सूर्योदय हो रहा है, अन्धकार मिट रहा है, आशा देवी अँगड़ाई लेती जग रही हैं। खचर जी के मुख की पीलिमा के ऊपर लालिमा अपना आँचल लहरा रही है।

खचर जी मेरे बताए पते पर दिल्ली पहुँच गए और..."मैं अन्दर प्रवेश कर सकता हूँ?" खचर जी प्रवेशाज्ञाशा में किंचित ब्रेकित हुए...। प्रकाशक जी ने डेस्क से अपना चश्मा उठाया और नेत्रों पर उसे चढ़ाते हुए बोले, "आइए, आइए, महोदय! संकोच कैसा?" खचर जी कक्ष के भीतर प्रविष्ट हुए, जूते उतार उनके सामने दरी पर बैठ गए—'जी, प्रणाम, मैं कवि डा. खचर सिंह 'खचर', हिन्दी प्रवक्ता, महाबली महाविद्यालय, मेरठ।" "अच्छा, अच्छा, नमस्कार... क्या नाम बताया आपने, डॉ॰ खचर सिंह 'खचर', नाम तो चित्ताकर्षक है, किन्तु अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं हो रहा।"

"जी ऐसा है, मेरे पूज्य पिता जी संस्कृत के पंडित थे, उन्होंने ही, मेरी जन्म राशि के अनुसार, पंचांग देखकर रखा था मेरा नाम, खचर सिंह, 'खचर' मैंने उपनाम रख लिया, कवि का कुछ उपनाम भी तो होना चाहिए ना।" प्रकाशक जी भी संस्कृत-प्रेमी थे, उसी टोन में बोले, "नामार्थभिज्ञ होने की उत्कंठा है मेरी।"

खचर जी उत्साहित होते बोले, "हाँ, हाँ क्यों नहीं, गूढ़ार्थ की व्याख्या करना तो प्रवक्ता का प्रथम कार्य है। देखिए श्रीमन्, खचर एक बहुआयामी शब्द है। खचरार्थ है—सूर्य, पवन, राक्षस, पक्षी, बादल आदि।"

"अच्छा,...उत्तम, उत्तम।" प्रकाशक महोदय, थोड़ा पुलकित होते हुए, आसन बदलते हुए, बोले, "आगे बोलिए।" "देखिए जी, एक श्लोक आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ, उससे आपको खचर महिमा का आभास मिलेगा।" कहते हुए खचर जी ने श्लोकोच्चारित किया—

"खचरस्य सुतस्य सुतो खचरः, माता खचरी न पिता खचरः।
खचरस्य सुतेन हतो खचरः, खचरी परिरोदति हा खचरः ।"

देखा आपने, अकेले एक खचर शब्द से महाभारत-महागाथा का एक अंश हमारे नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो उठा।"

प्रकाशक महोदय बोले, "कर्णप्रिय तो बहुत है, परन्तु इसके पीछे की कथा, समझ में नहीं आई।"

"बहुत सरल है महाशय, एक दम ग्राह्य। बस खचर शब्द के तीन अर्थ ध्यान में रखिए–पहला पवन, दूसरा राक्षस या राक्षसी, तीसरा सूर्य, सारी कथा मूर्त रूप धारण कर प्रकट हो जाएगी।" गद्‌गद होते खचर जी बोले।

"जी, मुझे ध्यान हैं तीनों अर्थ।"

तो सुनिए, "महाभारत की इस कथा से तो सभी परिचित हैं कि पवन-पुत्र हनुमान के अवतार, भीम ने राक्षसी हिडिंबा से विवाह किया था। उनके एक पुत्र हुआ–राक्षस घटोत्कच, जिसने कुरुक्षेत्र युद्ध में पाडवों की ओर से कौरव सेना पर महा तांडव मचाया, जिससे हतप्रभ हो सूर्य पुत्र कर्ण ने इन्द्र से देवास्त्र प्राप्त किया, जिस अस्त्र से कर्ण ने राक्षस घटोत्कच को यमलोक पहुँचाया, माता राक्षसी हिडिंबा, हाय घटोत्कच, हाय घटोत्कच चिल्लाते विलाप करने लगी।"

सुनते ही प्रकाशक महोदय, बैठे-बैठे उछल पड़े, हाथ जोड़कर खचर जी के समक्ष नतमस्तक हुए, "प्रणाम्-कविवर, प्रणाम, धन्य है खचर महिमा, धन्य है उसके व्याख्याता आप, धन्य हैं, क्या चमत्कार है, तभी तो मैं कहूँ कि शब्द को ब्रह्म क्यों कहते हैं, अकेले एक शब्द ने कैसी महान् कथा-सृष्टि की है, मुझे आपमें एक स्रष्टा के दर्शन हो रहे हैं, अब आकर पता चला कि कवि और स्रष्टा में कोई अन्तर नहीं..." क्या बात है, खचर के पुत्र का पुत्र खचर है, माता उसकी खचरी है लेकिन पिता खचर नहीं, खचर के पुत्र द्वारा, खचर मारा गया, खचरी रोने लगी–हाय खचर वाह।

खचर जी आत्म-विभोर हुए...किंचित विलंबोपरांत बोले, "जी, मेरा एक कविता-संग्रह है, उसका प्रकाशन करेंगे आप?"

"क्यूँ नहीं बन्धु, क्यूँ नहीं! अवश्यमेव! अवश्यमेव! लाइए, दीजिए पांडुलिपि।" गद्‌गदायते खचर जी ने पांडुलिपि देते हुए कहा, "जी, पहले एक बार देख तो लीजिए प्रकाशन से पूर्व, प्रकाशन योग्य है भी या नहीं?"

"इतना लज्जित मुझे अब न कीजिए खचर जी, आपकी पांडुलिपि का मूल्यांकन मैं करूँ? मैं तो आपके चरणों की धूल भी नहीं।"

खचर जी चलते-चलते बोले, "नमस्करोमि!"

"नमस्करोमि कवि पुंगव, नमस्करोमि।"

मिठाई का डिब्बा हाथ में पकड़े खचर जी ने मेरे कमरे में प्रवेश किया, मिठाई का एक टुकड़ा मेरे मुँह में ठूँसते हुए बोले, "बन्धु हैं तो आप मेरे अनुजवत्, पर आपको गुरु मानता हूँ, गुरुमन्त्र शत् प्रतिशत् सफल हुआ।"

खचर जी के मुखारबिन्द पर भ्रमरों के तानपूरे के स्वरों के साथ, तितलियाँ नृत्य करने लगी।

●

साक्षात्कार

पी-एच.डी. किए काफी दिन बीत जाने पर भी कहीं नियुक्ति पाने में मैं सफल नहीं हो रहा था। कई महाविद्यालयों में नियुक्ति होते-होते हाथ से ऐसे फिसल गई जैसे कौवा बच्चे के हाथ से रोटी का टुकड़ा ले उड़ा हो। पर इस भय से साक्षात्कार का चांस छोड़ा तो नहीं जा सकता। ग्रामीण अंचल के एक महाविद्यालय में हिंदी प्रवक्ता पद के लिए इंटरव्यू देने पहुँचा।

बाहर से आए दो एक्सपर्ट्स ने काव्यशास्त्र, आलोचना आदि से संबंधित जितने भी प्रश्न पूछे मैंने सभी के उत्तर ऐसे प्रभावशाली ढंग से दिए कि दोनों परम संतुष्ट हुए। वे कॉलेज के विभागाध्यक्ष से बोले, ''हम संतुष्ट हैं डॉ. साहब, आपको कुछ पूछना हो तो पूछ लीजिए।'' वे बोले, ''जब आप दोनों विद्वज्जन संतुष्ट हैं तो मेरे लिए पूछने को क्या रह जाता है, मैं भी सहमत हूँ।'' सुनते ही मैं रोमांचित हो उठा। मैंने सोचा कि आज प्रातः उठते ही जरूर किसी भाग्यशाली का चेहरा देखा है। फिर मन ने कहा, ''अरे उठते ही तो तूने अपने मुख पर हथेलियाँ फिराकर उन पर दृष्टि डालते हुए 'कराग्रे वसते लक्ष्मी' का जाप किया था, फिर उठकर अलमारी के शीशे के सामने खड़ा होकर अपना मुँह निहारा था तो तू ही तो था वह पहला व्यक्ति जिसका मुँह देखा था,...अरे मैं तो भाग्यशाली निकला, तभी तो लगता है काम बन गया, अब कसर ही क्या रह गई है नियुक्तिपत्र झटकने में?

प्राचार्य प्रेसीडेंट से बोले, ''चौधरी साहब, हम सब इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, आपको कुछ पूछना है तो पूछ लीजिए।'' प्रेसीडेंट साहब अकड़कर बैठते हुए बोले, ''हाँ देखणा तो मनैई है कि किसै रखा जाए, आखिर में सारी जिम्मेदारी तो मेरी ही मान्नी जाग्गी, कोलिज की कमैटी

नै तो मनै ई जवाब देणा पड़ैगा। लालबहादुर सास्त्री के टैम में रेल का ऐक्सीडेंट हुया था तो उन्हाँनै इस्तीफा दे दिया था। पुच्छै कोई सास्त्री जी रेल के डिराइवर थे या गारड थे, पर उन्हाँनै इस्तीफा दे दिया था। इसी दाळ कोलिज की हर घटिया बात के लिए जिम्मेदार मनै ई ठैराया जावैगा। मैं भी कुछ पूछणा चाहूँ इस मास्टर जी तै।"

प्रेसीडेंट साहब मेरी ओर मुखातिब हुए और बोले, "मास्टर जी! थारा नाम?"

"श्रीमन्!" इतना ही बोल पाया था कि प्रेसीडेंट साहब बीच में बोल पड़े, "अरै यू के लट्ठ सा मार दिया, बड़्याँ के साथ जी लगाकै बोलणा चहिए कि नहीं?" मैं माथा पकड़कर बैठ गया, कहाँ आ फँसा मैं? मैं स्थिर हुआ और बोला, "जी श्रीमान् जी! मेरा नाम शशिकांत भारद्वाज है।" मैं चुप हो गया।

"अच्छा मास्टर जी, यू रिसी भरद्वाज का नाम बिगाड़ कै भारद्वाज क्यूँ कर दिया? सीताराम जी के उप्पर नाम रखा तो सीताराम ही तो रहैगा, किरसन का किरसनलाल ई तो रहैगा, किरासीन लाल तो होण तै रह्या और यू ई रहत्ता आया है, इब नाम बिगाड़न का यू कोई नवा फैसन चल्या है? खैर थारी मरजी, तम आपणे नाम नै क्युँक्कर भी बोल सको, तम सुतंतर हो।" वे चुप हो गए और मुझसे स्पष्टीकरण नहीं माँगा कि मैं भारद्वाज क्यों लिखता हूँ।

चौधरी साहब ने दूसरा प्रश्न पूछा, "न्यूँ बताओ मास्टरजी, कदी ऊँट देख्या है?" मैंने उत्तर दिया, "श्रीमान् जी! (इस बार मैंने श्रीमन् नहीं कहा) ऊँट भी कोई ऐसा पशु है जो किसी ने न देखा हो, खूब देखा है और रोज देखता हूँ।"

"चोक्खी ढाळ देख्या है?" "जी, बिल्कुल अच्छी तरह देखा है।"

"मेरा खियाल है मास्टर जी तम बालकपण तैई देखते आर्ये होगे।"

"जी हाँ बचपन से देखता आ रहा हूँ।"

"जिब ऊँट देख्या है तो कहण की बात नईं, तमनै भैंस, वळद, गाय, भेड बकरी सारेई जिनावर देक्खे होंगे।"

"जी हाँ, बचपन से ही सारे पशु देखता चला आ रहा हूँ।"

"फेर न्यूँ बता मास्टरजी, ऊँट की चाल मै के खासियत है जो दूसरे जिनावरों की चाल में नईं हैं।" उन्होंने पूछा।

प्रश्न सुनते ही मैं चकरा गया, क्या उत्तर दूँ? कुछ खास अंतर दिखा हो तो बताऊँ भी। मैंने कहा, "श्रीमान् जी! सभी पशु चार पैरों के होते हैं और सब एक सा ही चलते हैं।"

प्रेसीडेंट साहब ने मुझे ऐसे देखा जैसे मैं निरा बुद्धू हूँ, इतनी मामूली सी बात भी नहीं जानता और बोले, "बस यूई देख्या है इतनी उमर में? मैं समझता हूँ मास्टरजी थारी उमर तीसेक साल की तो होगी।" "जी हाँ इतनी तो है।"

"फेर तीस साल तै एक चीज देखते चले आर्ये हो और इतना भी नहीं देख सके कि ऊँट की चाल और पशुओं तैं अलग होवै। सारे जिनावर एक ढाळ चलैं पर ऊँट की चाल एकदम सारे जिनावरों तै अलग होवै। कदी न्यूँ नई सोच्या मास्टर जी, चलते ऊँट पै बैठ्या आदमी बाम्मे दाहणे, बाम्मे दाहणे क्यूँ हिलता रह वै?" मुझे चुप देखकर वे बोले, "न्यूँ हिलता रहवै के ऊँट पहले आग्गे पिच्छे के दोन्नों बाम्मे पाँ एक साथ ठाकै आग्गे नै बढ़े, फेर आगे पिच्छे के दोन्नो दाहणे पाँ ठाकै आग्गे नै बढ़े, इसी ढाळ पहले बाम्मे फेर दाहणे, बाम्मे दाहणे पैराँ ने एक साथ ठाकै चलै, यूई वजै है कि ऊँट पै बैठ्या माणस बाम्मे दाहणे हिलता रहवै, यू ऊँट की चाल की खासियत है जिबकि सारे जिनावर, अगला बाम्मा, पिछला दाहणा, फेर अगला बाम्बा पिछला दाहणा–दोन्नो पैरा नै ठाकै चलै।"

मैं चुप–चौधरी साहब बात तो पते की कह रहे हैं, पर मैं कभी भी इतनी बारीकी नहीं जा सका था। वे बोले, "मास्टरजी, जिब इतनी मोट्टी-सी बात थारे पल्ले नईं पड़ी तो कविता की बरिक्की मै क्युँक्कर पोंहचोगे? फेर के कविता समझाओगे बाळकाँ नै?" मैंने मन ही मन सोचा कि कदाचित् प्रेसीडेंट महोदय ठीक ही कह रहे हैं कि जब मैं इतनी मोटी, रोजाना देखी जाने वाली चीज़ नहीं पकड़ सका तो कविता-सागर से मोती कैसे ढूँढ़ निकालूँगा?

फिर उन्होंने अगला प्रश्न दागा, "अर्जन का नाम तो सुण्या होगा मास्टर जी, वही पाँच पांडवों मै तै एक?" मैंने उत्साहपूर्वक उत्तर दिया, "जी हाँ, अर्जुन नाम से तो बिना पढ़े-लिखे भी परिचित हैं।" "तो अर्जन क्या अमरिक्का मै ब्याहा था?"

मुझे काटो तो खून नहीं...मैं चुप। "बोल्लो मास्टर जी, अमरिक्का मै व्याहया था के नईं?" मैं बोला, "नहीं, यह गलत है।"

"गलत तो तम हो मास्टर जी, अर्जन अमरिक्का मै ब्याह्या था, कदी पिरथी सिंह बेधड़क का नाम सुण्या है?" "सुना है, वे एक भजनी थे, हारमोनियम पर गीत, भजन गाया करते थे।" वे बोले, "पिरथीसिंह बेधड़क एक भजनी तो था ही, बड़ा सोहणा गला था उसका, वे एक कवी भी थे, उन्हॉने कह्या है, "अमरिक्का मै अर्जन ब्याहे, पांडू ब्याहे ईरान" तो जरूर ब्याहे थे, कवी भी कदी गलत कह सकै?"

इस पर मैं बोला, "श्रीमान् जी, कवि तो कभी गलत नहीं कहता, पर मैंने कहीं नहीं सुना, कभी नहीं पढ़ा, सारा महाभारत कई बार पढ़ चुका हूँ पर अमरीका में अर्जुन की ससुराल थी यह नहीं पढ़ा। हाँ, पाताल लोक की नाग कन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था, यह मैंने सुना है।"

"हाँ, ठीक सुण्या है मास्टर जी, पत्ताल लोक ही तो अमरिक्का है।"

मैं चुप, क्या उत्तर देता, मैंने कभी नहीं सुना कि अमरीका पाताल लोक में है, लेकिन प्रेसीडेंट साहब की बात काटने की हिम्मत भी नहीं हुई। मुझे चुप देखकर वे बोले, "पत्ताल लोक जमीन के तळैई तो होवै?" मैंने कहा, "जी हाँ आकाश में तो होता नहीं, पृथ्वी के नीचे ही होता है।"

"अरे मास्टर जी, अमरिक्का पत्ताल लोक ई मै तो है। मैं समझ्याऊँ तम नै–धरती मै कुआँ खोदणा शुरू करो, खोदते जाओ, खोदते जाओ, न्यूँई खोदते खोदते अमरिक्का जा लिकड़ोगे, जा लिकड़ोगे के नही? समझे मास्टरजी, अमरिक्काई तो पत्ताल लोक है।" मुझे लगा कि वे मूँछों मूँछों में मुस्कराकर मुझे एकदम अकल से पैदल सिद्ध कर रहे हैं, आँखों आँखों में मानो मुझसे पूछ रहे हैं–"धेल्ले की अक्ल नहीं चला आया कोलिज में प्रोफेसर बनने।" कुछ मुस्कराते हुए वे बोले, "अच्छा मास्टर जी, न्यूँ बताओ के नर सुंदर होवै के मादा?"

मैंने साहस बटोरकर कहा, "सुंदर तो स्त्री, मेरा मतलब मादा, ही होती है।"

"गलत, बिल्कुल गलत"–मुझे लगा जैसे मेरी पीठ पर जोर का हंटर पड़ा हो–"एक भी बात का सही जवाब दोगे के नईं? सुंदर तो नरई होत्ता है।" वे सलैक्शन बोर्ड की ओर मुखातिब हुए और बोले, "आप लोगई बताओ के सुंदर कौण होवे, नर या मादा?" कॉलेज के विभागाध्यक्ष बोले, "प्रेसीडेंट साहब भारद्वाज जी ठीक कह रहे हैं, नारी ही सुंदर होती है, सारा साहित्य नारी के सौंदर्य से ओत-प्रोत है, नर-सौंदर्य का वर्णन तो न के बराबर

हुआ है।" प्राचार्य और दो एक्सपर्ट्स ने भी उनकी हाँ में हाँ मिलाई।

प्रेसीडेंट साहब बोले, "इसका मतलब है तम भी भरम में हो—सुणो, सुंदर तो नरई होवै। पिरकरती नै नर को ई सुंदर बणाया है—बताओ, ईमानदारी तै, कसमा धरमी बताओ के मोर-मोरनी, हिरण-हिरणी, शेर-शेरनी, गाय-बैल, कुत्ता-कुतिया, मुर्गा-मुर्गी, तोता-मैन्ना, कबूतर-कबूतरी, साँप-साँपणी, बकरा-बकरी कोई-सा भी जोड़ा ले ल्यो—इसमें नर सुंदर है या मादा?"

प्राचार्य बोले, "प्रेसीडेंट साहब! हमें तो विषय की योग्यता देखनी है न कि कुछ और।" फिर दोनों एक्सपर्ट्स बोले, "प्रेसीडेंट साहब, भारद्वाज जी से हिंदी पढ़वानी है या खेती-बाड़ी करवानी है, बच्चे हिंदी विषय से संबंधित जो भी प्रश्न पूछेंगे, ये उसका संतोषजनक उत्तर देंगे। हम तो इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।"

प्रेसीडेंट साहब एक्सपर्ट्स से बोले, "माफी चाहूँ, तम तो म्हारे हाथ में इसका जेवड़ा थमा कै चलते बणोगे, झेळणा तो म्हारेई नै पड़ैगा। गाम के बालकाँ नै ऐसे वैसे ना समझणा, ऐसे ऐसे सवाल करैंगे के इनकी बोलती बंद हो जाग्गी। जो आदमी अपणे तीस बरस की जिंदगाणी मै अपने वातावरण तै भी परिचत नई हो सक्या वो कविता के खाक पढावैगा—सब तैं पहलै उसनै गाम की रग-रग तै वाकफ होणा पडैगा, कदी-कदी बालकाँ तै उळझणा भी पड़ैगा तो सरीर मैं इतनी जान होनी चाहियै के बालक डर जाँ, देक्खण मैं तो ये सिगरट जैसे बरीक से लगैं, लंबे चौड़े हट्टे-कट्टे बाळकाँ नै क्युँक्कर सँभाळैगे?"

दोनों एक्सपर्ट्स में से एक बोले, "ऐसा करो प्रेसीडेंट साहब कैंडीडेट्स का एक दंगल रख लो, जो भी उस दंगल में जीत जाए, उसी की नियुक्ति कर लो।"

"यू भी ठीक है, हाँ यू एक अच्छी राय है।"

"तो फिर हम क्या करेंगे यहाँ बैठकर, हम कुश्ती—एक्सपर्ट तो हैं नहीं।"

कहकर दोनों एक्सपर्ट्स उठ खड़े हुए—कौवा मेरे हाथ से फिर रोटी का टुकड़ा ले उड़ा।

●

हिन्दी भाषा का ड्रेस-डिज़ाइनिंग–भाग 1

हिन्दी का अध्यापक रहा हूँ, जाहिर है कि हिन्दी की सेवा की है, जिसके पुरस्कारस्वरूप उ.प्र. सरकार ने, मेरे सेवा-निवृत्त होने के उपरान्त से, मेरी मृत्यु पर्यन्त मुझे मानदेय देते रहने का बॉण्ड भरा हुआ है, जिसका अर्थ है, रोटी-समस्या से मेरी निश्चिन्तता। मुझे हिन्दी से प्रेम भी बहुत है, हिन्दी को मातृवत् मानता भी हूँ, लेकिन आधुनिक पुत्र की भाँति, माँ की पुरानी कुछ आदतों का विरोध भी करता हूँ। उसकी गलतियों को उजागर करने में शर्म भी नहीं महसूस करता। हिन्दी में मैंने हठधर्मी की ऐसी अनेक त्रुटियाँ देखी हैं जो मुझे, अपनी नवागन्तुका पुत्रवधू के समक्ष, अपनी बात पर अड़ी रहने वाली, उस सासू माँ का–स्मरण कराती हैं, जिसे हर समय यह भय खाए जाता है कि ये काले सिर वाली मेरे पाले-पोसे पुत्र को कहीं हर न ले जाए, उस पर ऐसा हक जमाती है जैसा वह मैके से लाई हुई दहेज की वस्तुओं पर जताती है। खेद है, वीमेन्स लिब के पक्षधरों को, नेत्रों पर चढ़े चश्मे से यह बात नज़र नहीं आती। आगे चलकर मैं इन बातों को सोदाहरण पेश करूँगा, सूत्र मैं थमा दूँगा, व्याख्या आप आलोचक बन्धु कर लेंगे। लेकिन पहले मैं यह कहना चाहूँगा कि उन ग़लतियों को सुधारा नहीं जाएगा तो दूर-दराज तक हिन्दी प्रतिष्ठित करना दुष्कर होगा, अतः मूर्धन्य हिन्दी सेवकों को बीड़ा उठाना चाहिए कि हिन्दी भाषा की ऐसी ड्रेस डिजाइनिंग करें जो सभी अंचलों में, सभी क्षेत्रों में समान रूप से ग्राह्य हो। अब तो एक अंचल की बोली, भाषा का, दूसरे अंचल की बोली, भाषा से मेल, पाकिस्तान, हिन्दुस्तान की मैत्री जैसा है–कहें कुछ, अर्थ निकले कुछ, या निकाला जाए कुछ।

यह विचारणीय है कि इस सुधार हेतु क्या कुछ किया जा सकता है। भाषा में कई कारणों से गड़बड़झाला उत्पन्न हो जाता है–मसलन,

किसी ने कुछ कहा, जिससे कहा, वह बिना अर्थ समझे अपने बुद्धि-चातुर्य से उसका अर्थ निकाल लेता है और दोनों पक्षों में लट्ठमलट्ठा की नौबत आ जाती है। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जिनका अर्थ दूसरों तक पहुँचते-पहुँचते कुछ का कुछ हो जाता है फलतः दोनों पक्षों में जूतमपैजार की सिचुएशन उत्पन्न हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सूत्र रूप में कहें तो इसे कुछ इस प्रकार के शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—अर्थ-अज्ञान से उद्भूत गड़बड़झाला, अर्थज्ञान होने पर भी स्थान-परिवर्तन से विपरीतार्थोत्पन्न गड़बड़झाला वगैरह-वगैरह। मेरी बात यूँ नहीं पल्ले पड़ेगी, आगे कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जो गड़बड़झाले खम ठोककर अच्छे-अच्छों के वैदुष्य को चुनौती देंगे। मैं कई बार विद्वत्समाज के समक्ष ये चुनौतियाँ रख चुका हूँ, लेकिन किसी माई के लाल ने उनसे दो-दो हाथ करने की हिम्मत नहीं दिखाई। अस्तु :

पेश हैं उदाहरण स्वरूप, एक कथा—

शीर्षक—'घरवाला'—उत्तम पुरुष में प्रस्तुति—

मैं क्लास खत्म कर डिपार्टमेंट पहुँचा, लेकिन मेरा दिमाग क्लास की आज की घटना में ही उलझा हुआ था। क्या बताऊँ, बात बहुत बड़ी है और कुछ भी नहीं। एम.ए. द्वितीय वर्ष की छात्रा चन्द्रकान्ता ने भरी कक्षा में कहा, "सर! रमाशंकर आज मुझसे बहुत बद्तमीजी से बोला।" मैंने पूछा कि "क्या कहा उसने?" वह बोली, "सर! बहुत ही गलत बात कही उसने।" "आखिर क्या कहा उसने?" मैंने जोर देकर कहा, लेकिन लड़की चुप। मैंने फिर घुड़ककर पूछा, "क्या कहा रमाशंकर ने? बताती क्यों नहीं?" वह बोली, "सर! रमाशंकर ने कहा कि कभी हमें भी अपना घरवाला समझ लिया करो।"

मुझे एकदम क्रोध आ गया। मैं कड़कती आवाज़ में बोला, "रमाशंकर, खड़े हो जाओ।" वह खड़ा हो गया और बोला, "गुरुजी!" इतना ही कह पाया था कि मैंने लगभग चीखते हुए कहा, "चुप बद्तमीज! शर्म नहीं आती, यही सब करने आते हो तुम यहाँ? तुम्हारे माँ-बाप ने तुम्हें यही सिखाया है?"

रमाशंकर फिर बोला, "सर मेरी भी तो सुनिए, क्या मुझे सुने बिना ही दंड देंगे, मुझे अपनी सफाई का मौका नहीं देंगे?" मैं उसी तरह से, "ठीक है बोलो, क्या कहना है तुम्हें।"

उसने कहना शुरू किया, "सर! मैंने चन्द्रकान्ता को नौचन्दी के मेले में देखा था, इसलिए आज पूछ बैठा, 'चन्द्रकान्ता जी, कल मेला देखने गई थीं?' इन्होंने कहा, 'हाँ'। मुझे जिज्ञासा हुई, 'क्या रात में अकेली?' उन्होंने बताया, 'नहीं घरवालों के साथ।' इस पर गुरुजी मैंने कह दिया, 'कभी हमें भी घरवाला समझ लिया करो।' बताइए गुरुजी, इसमें मैंने क्या बुरा कह दिया? क्या अपमानजनक या अश्लीलता है वाक्य में? इसके घरवालों के साथ मैं भी होता तो मैं भी घरवाला होता कि नहीं? घरवालों का एकवचन घरवाला ही तो है। खोट तो हमारी हिन्दी का है जो बहुवचन से एकवचन में आते ही गिरगिट की तरह रंग बदल गई और मुझे कटघरे में खड़ा कर दिया।"

रमाशंकर वोलने लगा, "गुरुजी बुरा नहीं मानिए, पर यह हिन्दी है बहुत गड़बड़। मैं आपसे कहूँ मुझे आपको एक सौ रुपए देने हैं। बताइए इसका क्या अर्थ है? आप मुझे एक सौ रुपए देंगे या मैं आपको एक सौ रुपए दूँगा। गुरुजी! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ। मैं आपकी विद्वत्ता को चैलेंज नहीं कर रहा, लेकिन भाषा सम्वन्धी किसी शंका का समाधान तो आप ही करेंगे?"

मैंने कहा, "बोलो क्या शंका है तुम्हारी?" "कोई बड़ी नहीं, एक लघुशंका है।" उसके बोलते ही क्लास में ठहाका गूँज उठा। मैंने उपेक्षा करते हुए पूछा, "हाँ बोलो, क्या शंका है?" उसने कहना शुरू किया, "गुरुजी, 'रमेश फूल देखता है, रमेश को फूल दिखाई देता है। रमेश गाना सुनता है, रमेश को गाना सुनाई देता है। लेकिन जब रमेश पानी पीता है तो रमेश को पानी पिलाई क्यों नहीं देता? रमेश जब फूल सूँघता है तो रमेश को फूल सुंघाई क्यों नहीं देता?' "

रमाशंकर तो रुकने का नाम ही नहीं ले रहा था। बोला, "गुरुजी, मुझे तो हिन्दी ही गड़बड़ लगती है। देखिए जिस प्रकार कुमार का स्त्रीलिंग, कुमारी है उसी प्रकार सवार का स्त्रीलिंग सवारी होना चाहिए, पर है नहीं। सवार का अर्थ सवारी गाँठने वाला, सवारी का अर्थ है जिस पर सवारी गाँठी जाए। तो सवार तो हुआ आदमी, सवारी हुआ—मोटर, घोड़ा, साइकिल आदि। लेकिन सवारी उसे भी कहते हैं जो सवारी में सवार हो। वह आदमी भी हो सकता है, औरत भी। जैसे ताँगे में कोई बैठा हो—स्त्री या पुरुष, पूछने वाला यही पूछेगा कि यह सवारी कहाँ

जाएगी? सब गड़बड़।''

इस कथा को कुछ कमेंटों सहित आगे बढ़ाता हूँ—क्लास रूम से आकर मैं स्टाफ रूम में बैठ जाता हूँ। मेरे ध्यान में था कि रमाशंकर की एकाध बात को काटकर मैं अपनी विद्वत्ता का 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' कर सकता था क्योंकि भरी क्लास में छात्रों के समक्ष अपने ज्ञान-शान का झंडा झुकने दिया है कभी किसी अध्यापक ने? अपने अज्ञान-ज्ञान से पूर्णतः अभिज्ञ रहने पर भी अपना परचम तो वह लहराना चाहता ही है और पीरियड-समाप्तादेश-सूचक घंट-ध्वनि के कर्ण-प्रवेश करते ही वह राहत की साँस लेते हुए, रजिस्टर और पुस्तक बगल में दबाए झट क्लासरूम से निकल भाग उठता है। ऐसे प्राध्यापकों में, मैं स्वयं को, एक अपवादरूप मानता हूँ और अपना झंडा झुकने की चिन्ता किए विना छात्रों से कह देता हूँ, ''सॉरी, सोचकर कल उत्तर दूँगा।''

मैं हिन्दी माँ से बाल-जिज्ञासा करते पूछता हूँ कि माँ सभी शब्दों से तेरा अलंकरण होता है फिर शब्दों के साथ तेरा यह सौतेला व्यवहार क्यों? 'सवा' को तूने अखंड, अनन्त, निर्विकार, अभेद्य, अशोष्य, अदाह्य, अजर, अमर कर दिया यहाँ तक कि उसे तूने इतना महिमामंडित कर दिया कि अनुष्ठानोपरान्त दी जाने वाली दक्षिणा में भी तूने 'सवा' को पूज्य पदासीन कर दिया। सवा रुपया, सवा सेर तिल, सवा मन बाजरा, सवा, सवा, सवा, गौमाता के नाम का गोदान भी सवा रुपए का बना दिया। वो तो भला हो अर्थव्यवस्था की तीव्रोन्नति का कि चवन्नी को उसने सिक्का संग्रहालय में भेज दिया, सवा रुपए से काट फेंका रुपया बेचारा अकेला रह गया। अब रुपए का स्वतन्त्र अस्तित्व है। लेकिन 'पौन' को तूने विकारग्रस्त कर दिया माँ—बेचारे को सवा की तरह निर्विकार रूप क्यों नहीं दिया? बचपन में मैं रटा करता था—एक पोन पोन, दो पोन डेढ़, तीन पोन सवा दो—ननसाल गया वहाँ देखा बच्चे रट रहे हैं—एक पोना पोना, दू पोना डेढ़, तीन पोना सवा दो। मेरे यहाँ का पोन ननसाल में पोना हो गया और तीसरी जगह पहुँचा तो देखा पाठशाला में बच्चे एक पंक्ति में खड़े हैं और उनके सामने एक बच्चा खड़ा है—बच्चा बोलता है—एक पउना पउना, सम्पूर्ण बालपंक्ति एक स्वर में जोर से बोलती है—''एक पउना पउना'', बालक—''दुई पउना डेढ़'' पंक्ति सस्वर, ''दुई पउना डेढ़''—इसी भाँति ''तीन पउना सवा दो'', आदि-आदि का कोरस चलता

है। बता माँ यह क़ैसा व्यवहार है? मेरे यहाँ के 'पोन' का आकार मेरी ननसाल में बढ़कर 'पोना' हो गया, भाभी के गाँव गया तो 'पउना' होकर और बड़ा हो गया। ये क्या गड़बड़झाला है। सगे भाइयों के बीच ऐसा पक्षपाती व्यवहार और 'साढ़े' के साथ तो तूने अपनी मनमानी का साक्षात दर्शन करा दिया, उससे बोली, "जा बेटा एक से जा मिल और 'डेढ़' बन जा और चट मँगनी पट ब्याह और झटपट तलाक देकर फटाफट आउट हो जा, कल फिर दो के साथ मिलकर 'अढ़ाई' बन जा—ऊपर वाले फार्मूले के तहत झटपट आउट होकर परसों तीन से जा मिल और साढ़े तीन का रूप धारण कर ले, बस अब तेरी गृहस्थी पक्की, अब से तू न तो आउट होगा न तलाकित होगा, अब तुझे अखंड सौभाग्यशील पद मिल गया है। कहीं तक भी चला जाएगा निर्विकार ही रहेगा—साढ़े तीन, साढ़े तीन सौ, साढ़े तीन हजार, लाख करोड़ तक चला जा अब के बाद तेरा रूपान्तरण नहीं होगा—'एक' और 'दो' के पश्चात् तुझे 'पुनर्मूषिका भव' का आशीष देती हूँ। "इति कथा समाप्तम्।"

"हे पंडितों, महापंडितों, आलोचकों, समालोचकों, लैक्चरारों, रीडरों, प्रोफेसरों, स्वयंभू विद्वानों, सभी से अपील करता हूँ कि हे प्रज्ञावानों प्रज्ञाचक्षुओं को खोलो, कुछ सोचो, इसकी रोटी खा रहे हो तब भी और न खा रहे तब भी—क्योंकि माँ तो आखिर माँ है, क्यों माँ के आँचल पर दाग लगने दे रहे हो, चेतो!

अन्त में बस इतना ही कहता हूँ, बार-बार कहता हूँ, अपनी भड़ास की पुनरावृत्ति बार-बार इसलिए नहीं करता कि बक्की झक्खी हूँ, बल्कि इसलिए करता हूँ कि मैं, माँ की सेवा करता हूँ, उसे बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करना चाहता हूँ, क्या आपकी कोई ड्यूटी नहीं बनती?

नोट—*इसमें 'घरवाला' कथा का संक्षिप्त रूप नभाटा के 27.6.2000 में प्रकाशित हुआ।*

●

हिन्दी भाषा का ड्रेस-डिजाइनिंग–भाग 2

भाषा की ड्रेस डिजाइनिंग के पहले भाग में मैंने एक सत्यकथा के माध्यम से, कुछ ऐसी कमियों का उल्लेख किया था, जो हिन्दी भाषा के गड़बड़झाले पर प्रकाश डालती हैं। यहाँ मैं दो सत्य कथाओं और एक सच्ची बात को प्रस्तुत करता हूँ जिससे कुछ और गड़बड़ियों पर प्रकाश पड़ेगा।

कथा संख्या-1

बात लगभग 70 वर्ष पूर्व की है–भारत का एक प्रमुख प्रान्त, उत्तर प्रदेश, मेरा उत्तम प्रदेश जिसे विशेषतः दिल्ली वाले, दिलजले, ईर्ष्यावश उल्टा प्रदेश कहते हैं, उत्तर प्रदेश का एक प्रमुख जिला मेरठ, मेरठ का एक जाना-पहचाना गाँव, मेरा गाँव, डालमपुर, मेरठ से 15 किलोमीटर पश्चिम में, हींडन नदी से तीन किलोमीटर पूर्व में, डालमपुर में शालावाला नाम का एक ब्राह्मण परिवार, मेरा परिवार (हमारे यहाँ संस्कृत पाठशाला थी, जिसे गाँव वाले, शाला वाले के नाम से जानते-पहचानते हैं) पाठशाला में एक भव्य शिवमन्दिर, मन्दिर में अमृततुल्य जल का एक कुआँ। संस्कृत पढ़ने की डिमांड समाप्त हो गई तो पाठशाला स्वयं ही चलती बनी, कुएँ का पानी उतर गया तो कुआँ भी अन्तर्धान हो गया, मिट्टी से पाट दिया गया। मन्दिर और मेरा घर, शाला वाला घर, अभी भी विद्यमान है। बात की सत्यता सिद्ध करने हेतु मैंने जानबूझकर, घर की टॉपोग्राफी प्रस्तुत की है।

मेरे गाँव की लगभग एक चौथाई स्त्रियाँ, लड़कियाँ, हमारे कुएँ से पानी भरने आया करती थीं। कुएँ पर रस्सी बँधा एक डोल हर वक्त उसकी मेंढ पर रखा रहता था। आज कुआँ तो विद्यमान नहीं, पर उसकी पत्थर की मेंढ़ के चारों ओर, रस्सियों की रगड़ से बनी हुई गहरी-गहरी नलिकाएँ,

आज भी मेरे मानस-पटल पर खिंची हुई हैं और रहीम की 'रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निसान' की व्याख्या प्रस्तुत कर रही हैं। इन्द्रो नाम की एक कन्या कुएँ से जल भरने आई थी। पाठशाला के विद्यार्थीगण, इधर-उधर बैठे—अपना-अपना पाठ रट रहे थे। एक विद्यार्थी धोती पहने, लम्बी-चोटी और जनेऊ धारण किए, नंगी पीठ बैठा, आगे-पीछे झुकता-उठता, बोल-बोलकर श्लोक कंठस्थ कर रहा था। इन्द्रो ने पानी भरा घड़ा उठाया, सिर की ईंढी पर रखा और बड़बड़ाती चली गई।

थोड़ी देर बाद, हाथ में लट्ठ लिए इन्द्रो का बापू वहाँ आया। मेरे यहाँ के बड़े-बूढ़े, गिरिधर कविराय जैसे कवियों की दी हुई सीख 'लाठी सदा रखिए संग' का आँखें भींचकर पालन करते थे। पुरानी शिक्षाओं को आँखें खोलकर पालन करने का चलन तो अब होने लगा है क्योंकि अब सामान्य जन की सहज बुद्धि की लगाम, आलोचक बुद्धि के हाथ में है। इन्द्रो का बापू नंगे पैर था, ज्यादातर लोग नंगे पैर रहा करते थे, फलतः उन्हें मन्दिर के बाहर जूती उतारने की उस कष्टानुभूति का सामना नहीं करना पड़ता था जो आजकल के पढ़े-लिखों को होती है—जूते के फीते खोलो, जूते उतारो, हस्त-प्रक्षालन करो, जूते चोरी होने के भय से डरे-डरे रहो, मन्दिर में खटाक् भगवान के दर्शन करो और फटाक् से फिर जूते पहनो, फीते बाँधो, हाँ फिर हाथ धोए बिना काम चलता है, किसने देखा है, भगवान को उतनी फुर्सत नहीं कि वे भक्तों की छोटी-छोटी बातों पर नाक-भौं सिकोड़े—कितना कष्ट दर्शन करने में? अतः अक्ल से क़ाम लेने वाले ऐसे काफी लोग विद्यमान हैं जो बाहर से ही हाथ जोड़कर, फोकट में भगवान से आशीर्वाद झटक लेना चाहते हैं। मैं जानता हूँ कि इस प्रकार की शैली से कथानक की गत्यात्मकता-चित्रात्मकता में गत्यवरोध पैदा होता है, उसके लिए सॉरी। तो इन्द्रो का बापू खट्-खट् लाठी ठोंकता, मन्दिर के चबूतरे पर चढ़कर पिताजी के सामने पहुँचा—"पंडज्जी दंडौत (दंडवत्)।" विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते पिताजी रुक गए, बोले, "सुखी रह लंबरदार, आजा, सुणा के हाल हैं?" "न्यूँ तो थारी किरपा है माराज (महाराज) सब ठीक-ठाक है, पर दाद्दा थारे बिरमचारी (ब्रह्मचारी) भोत लुच्चे-लफंगे अँ, छोरी नै गाळी दे कै छेड़ैं।" पिताजी सन्न, भौंचक। अपने विद्यार्थियों के बारे में ऐसी बातें सहन करना, उनकी प्रकृति के एकदम विरुद्ध था। क्रोध में आग बबूला होकर उच्च स्वर में बोले, "कौन है रे,

तुममें से?...बोलो! बोलते क्यों नहीं?" मैं छोटा-सा था, टुकुर-टुकुर ताक रहा था, डरा-डरा-सा, पिताजी सोच रहे थे कि ब्रह्मचारीगण, गाँव के कुछ सम्भ्रान्त घरों से भिक्षा माँगकर लाते रहते हैं, उनके विषय में, अपवाद रूप में भी कभी कोई बात सुनने को नहीं मिली, लम्बरदार क्या कह रहा है?

उन दिनों हमारी संस्कृत पाठशाला में विद्यार्थी अपने भोजन का प्रबन्ध, कुछ घरों से—'माते भिक्षां देहि' 'अहं तु ब्रह्मचारी (फलाँ फलाँ) कहकर—प्राप्त भिक्षा से करते थे। शुल्क उन्हें देना नहीं होता था क्योंकि पिताजी उनसे कोई शुल्क नहीं लेते थे अथवा वे शुल्क दे नहीं सकते थे अथवा संस्कृत छात्रों से शुल्क न लेने की परिपाटी थी, कुछ कह नहीं सकता।

पिताजी की कठोर वाणी का किसी भी विद्यार्थी ने उत्तर नहीं दिया, सब चुप। पिताजी का क्रोध अवरोह के बजाय आरोह की ओर वेगवान् हुआ, "बोलते क्यों नहीं नालायकों?" सब चुप। इस पर लम्बरदार ने लाठी उठाते हुए एक विद्यार्थी की ओर संकेत किया और बोला, "यू है पंडज्जी, वो जो साँवळा-सा मोटी चोट्‌टी वाळा मात्थे पै तिलक लगाए, जनेऊ पहरे, नंगी पीठ बैठ्या है ना, वो है, जो इंदरो नै गाळी दे दे कै छेड़ र्‌या था, इंदरो नै पंडज्जी न्यूँई बताया था।" महेन्द्र की ओर लम्बरदार का इशारा देख पिताजी जोर से चिल्लाए, "यहाँ आ रे महेन्द्र, दुष्ट! मैं क्या सुन रहा हूँ? तेरे से क्या, किसी भी विद्यार्थी से मुझे कदापि ऐसे नीचतापूर्ण कुकृत्य की आशा नहीं थी।" महेन्द्र हक्का-बक्का खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर पिताजी के सामने आ खड़ा हुआ, बोला, "मैं कुछ समझा नहीं गुरुजी, क्या बात है?"

पिताजी बोले, "चोरी और सीनाजोरी, पूछता है, क्या हुआ? अभी इन्द्रो पानी भरने आई थी, तूने उसे गाली दी? समेट अपना बिस्तर-बोरिया और भाग जा अपने गाँव और जाकर सुनाना अपनी करतूत, अपने बाप को।" महेन्द्र रुआँसा होकर हाथ जोड़ते हुए गिड़गिड़ाया, "गंगाजिकसूँ (गंगा जी की सौगन्ध) गुरुजी मनै कुछ पता नहीं, मैं तो अपना पाठ कंठस्थ कर रहा था।" लम्बरदार तपाक से बोला, "झूठ बोल्लै, बेर बेर नईं कैरया था तू, 'सुसरी इंदरो कटड़े कु भुस खवा, सुसरी इंदरो कटड़े कु भुस खवा?' " पिताजी उसी उच्च स्वर में बोले, "सुना क्या कंठस्थ कर रहा था?" "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः', "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः"

श्लोक को जोर-जोर से बोलकर कंठस्थ कर रहा था। पिताजी के क्रोध के गुब्बारे में पिन चुभ गया और फुस्स, उसकी हवा निकल गई, सामान्य से कई डिग्री ऊपर का पारा, झट सामान्य डिग्री पर आ गया।

फिर पिताजी ने लम्बरदार के सामने श्लोक धीरे-धीरे बोला और कहा कि लम्बरदार महेन्द्र गाली नहीं दे रहा था, इस श्लोक को बोल-बोलकर रट रहा था, 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' तूने गलत समझा है लम्बरदार। लम्बरदार समझ गया और "गलती माफ दादूदा।" हाथ जोड़कर पिताजी को 'दंडौत' किया और चला गया लट्ठ पटकाते खट् खट् खट्।

देखा आपने, शब्द-अर्थ की अज्ञानता—अपने भावानुसार अर्थ निकालना और अपने कानों पर अटूट विश्वास का नतीजा? भाषा की यहाँ कोई इतनी गलती नहीं, ग़लती केवल शिक्षा की है जिसे हम जनता को नहीं परोस पा रहे हैं।

कथा न. 2

15 अगस्त, 1947—दो दृश्यों का पैरलल, एक साथ प्रकटीकरण—एक भारत में और दूसरा सद्यःरक्तस्नात पाकिस्तान में। एक ओर आतिशबाजियाँ, फुलझड़ियाँ, मिठाईबाजियाँ, फूलमालाबाजियाँ, नृत्य-संगीत की थिरकनों, बैंडबाजों, तिरंगारोहण की भव्यता के साथ, मुट्ठीभर कर्णधारों की यशेषणा की मूर्ति का सूचक सम्राटीय सिंहासनारोहण—दूसरी ओर पाकिस्तान में इंसानियत और हैवानियत का महासंग्राम, रक्त-फौहारों के ढोल ढपड़ों के मध्य उसी यशेषणा की पूर्ति की ताजपोशी का नरसिंहावादन, झंडासलामी-1 भारत के तो काफी लोगों की यशेषणा तुष्टि हुई पर पाकिस्तान के मात्र एक व्यक्ति की। एक मामूली-सा अन्तर। क्रिया की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है, यहाँ भी हैवानियत कुछ-कुछ वैसी ही नंगी नाची। खैर, यह तो पिष्टपेषण है मानो किसी उच्छिष्ट का स्वाद चखने का लोभी हूँ मैं। अतः इस अव्याख्येय की व्याख्या यहीं बन्द करता हूँ और अपनी मूलकथा के कपाट खोलता हूँ।

मेरी कथा से उपर्युक्त कथन का यदि कोई सम्बन्ध है तो मात्र इतना कि वहाँ से बेघर हुआ एक पंजाबी परिवार, मेरठ के हरिनगर मौहल्ले में मेरे घर के सामने आकर रहने लगा। उनके एक पुत्र था जिसे

उसके माता-पिता 'काका' कहकर बुलाते थे। कुछ दिनों पश्चात् काके की शादी हो गई। बिना किसी से पूछे अपने बुद्धि-कौशल से हमने उसकी पत्नी का नाम रख दिया 'काकी'। इतना व्याकरण ज्ञान तो हमें गर्भावस्था में ही हो गया था कि चाचा की पत्नी चाची, मामा की मामी, फूफा की फूफी होती है तो काका की पत्नी काकी ही होगी। पूरे मोहल्ले में वह महिला काकी के नाम से पुकारी जाने लगी। यह बताने की आवश्यकता मैं नहीं समझता कि पंजाबी में काका, बच्चे को कहते हैं। पर तब हम इतने ज्ञानी नहीं थे। अस्तु, वे पति-पत्नी, सबके लिए काका-काकी हो गए। वह चिड़ जाया करती थी कि मुझ इतनी बड़ी को ये काकी कहते हैं। इसका विरोध कटुतापूर्ण न होकर, मधुर हुआ करता था। बड़ी हँसमुख और सबसे मिलजुलकर रहने वाली युवती थी काकी।

एक दिन मैं, कई दिनों बाद घर लौटा था। मुझे देखकर, काकी मुस्कराई और निश्छल भाव से जोर से बोली, "आ गए जीजाजी? मैं तो आपको देखते ही हरी हो जाती हूँ, कहाँ गए थे, कई दिनों बाद आए?" मैं पानी-पानी हो गया, सोचा कैसी बेहया औरत है, न लाज, न शर्म, क्या बोले जा रही है अनाप-शनाप, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा? उसे डाँटते हुए मैंने कहा, "हट पगली, ऐसे नहीं कहते।" उसने एकदम निष्कपट भाव से कहा, "क्यों जीजाजी, इसमें क्या बुराई है, मैं झूठ थोड़े ही ना कह रही हूँ, सचमुच आपको देखते ही हरी हो जाती हूँ।" मैंने चुप हो जाने में ही भलाई समझी, उसे कैसे समझाता इसका अर्थ। और मैं चुपचाप अपने घर में प्रवेश कर गया।

देखा आपने गड़बड़झाला, उसके अनुसार इसका भाव भी सही पर मेरे यहाँ पहुँचते-पहुँचते भाव ने नायक से खलनायक का रूप धारण कर लिया। यहाँ मैं कथा-अप्रासंगिक बात और बता दूँ—मुझे अपनी प्रिय हिन्दी की स्थिति प्रायः 'कमजोर की जोरू सबकी भाभी' जैसी दयनीय लगती है, जब किसी भी अहिन्दी भाषाभाषी से बातें करता हूँ तो वह बड़ी फर्स्ट क्लास हिन्दी बोलता है, पंजाबी हो अथवा बंगाली, मराठी, गुजराती कोई भी हो, सब उसे अपनी दासी बना लेते हैं, पता ही नहीं चलता कि वह कौन भाषाभाषी है। बस यदा-कदा पंजाबी तो पकड़ में आ जाता है जब प्रख्यात हिन्दी दाँ होने पर भी 'मैंने बाजार जाना है', 'सर्वश्रेष्ठ उपनियासकार तो मैं मुंशी प्रेमचन्द को मानता हूँ।" आदि वाक्य

बोलता है अन्यथा पता नहीं चलता कि यह हिन्दी भाषाभाषी नहीं है। गांधीवादी भले ही इसे नम्र स्वभाव की कहकर इसका यशोगान करें, पर मुझे तो यह दासता की निशानी लगती है। अरे, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी तो होता है कुछ? पंजाबियत में रहते-रहते बूढ़ा हो गया पर पंजाबी बोलना नहीं आया।

कथा संख्या-3

उपर्युक्त कथा संख्या 2 की पूरक एक लघु-सी सच्चाई—अन्त में बतर्ज हिन्दी समाचार-पत्र चलते-चलते एक बात कहता हूँ। बात सच्ची कहता हूँ, एकदम सच्ची, भले ही किसी को बुरा लगे।

आप सभी जानते हैं कि बम्बई, ना, ना मुम्बई (मुम्बई को बम्बई कहने से इसलिए भयाक्रान्त हो उठा कि बम्बई को अपनी बपौती समझने वाले किसी भद्रजन से सामना न करना पड़ जाए और मुम्बई के अपमान की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, मुझे अपनी बत्तीसी तुड़वाकर न भागना पड़े) का एक समृद्ध, प्रतिष्ठित नामी-गिरामी सम्भ्रान्त 'कपूर परिवार', फिल्मी परिवार है। यह भी कहने की आवश्यकता नहीं महसूसता कि हम लोग मानस, गीता, महाभारत से परिचित हों न हों, पर फिल्मी कपूर खानदान से जरूर परिचित हैं।

आप एक छोटी-सी कल्पना कीजिए—"आप मेरे गाँव में पिकनिक करने गए (अब तो शहरी लोग पिकनिक करने गाँव जाते हैं, गाँव की ओर उनका खिंचाव बढ़ता जा रहा है, खेल गाँव, फॉर्म हाउस, मक्का की रोटी, सरसों का साग, गुड की डली, होले, चने की हरी डालियों को भूनकर, उनसे गर्म-गर्म चने निकालकर खाना वगैरह-वगैरह इसके संकेत हैं।) मेरे गाँव पहुँचकर एक छोटी-सी कल्पना और कर लीजिए—आप एक फिल्म प्रोड्यूसर हैं, अपनी किसी फिल्म की शूटिंग के सिलसिले में, आप अपनी यूनिट सहित वहाँ पहुँचे हैं, फिल्म की शूटिंग शुरू होती है, अचानक ही कोई व्यक्ति कपूर खानदान की हीरोइन कन्या को, उसके नाम 'लोलो' से पुकारता है, जोर से कहता है, "लोलो, जरा सुनो तो बिटिया?" और कल्पना कीजिए किसी मेरे गाँव वाले नर या नारी ने सुन लिया तो पता है क्या होगा, इस कथन के परिणाम की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं, मैं सच्चाई बताता हूँ—आप सबकी अगर पिटाई न होगी

तो कम-से-कम आपको सीन 'कट' कहना पड़ेगा और झटपट पैकअप करना पड़ेगा।

एक बार फिर देखा आपने कि प्यार-दुलार भरा एक शब्द दूसरे की गोदी में पहुँचकर कैसा उत्पात मचाता है। अस्तु, हे हिन्दी विद्याधरो, पुरोधाओं, आचार्यों, व्याकरणचार्यों, शोधकर्त्ताओं, इस गड़बड़ी का कोई उपाय सोचो, एकरूपता लाओ, अंग्रेजी जैसी एकरूपता, ऐसा नहीं होना चाहिए कि हर कोई जिसकी लाठी उसकी भैंस करता फिरे, हँडिया का एक ही चावल, हँडिया के सभी चावलों की परिपक्वता का सूचक है—उदाहरणार्थ अंक 44 ले लीजिए—कोई इसे चवालिस लिखेगा, कोई चवालीस, कोई चौवालीस, कोई चव्वालिस—जैसी जिसकी जीभ, वैसा ही उसका तड़का। अंग्रेजी में बस फोरटी फोर—चाहे आस्ट्रेलिया चले जाइए, चाहे अमेरिका, चाहे इंग्लैंड, फ्रांस, कहीं भी सब जगह फोर्टी फोर।

●

सर्वरोगहर बटी

दिल्ली का एक इलाका है जमना पार, जिसके बारे में वहाँ के लोग अक्सर कहा करते थे–"सारे दुखिया जमना पार"–बात पुरानी है, भले ही जमना पार वाले आज दुःखी न हों, परन्तु एक जमाना था तब वास्तव में यहाँ सभी दुखिआरे थे। बड़े-बूढ़े इसके साक्षी हैं।

जमना पार में एक सज्जन रहते थे, पता नहीं अब भी मुफ्त दवाई बाँट-बाँट कर उत्तर प्रदेश की सरकारी बसों में लिखे नारे 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' को चरितार्थ कर रहे हैं या निगमबोध घाट पर संस्कारित हो चुके हैं, कह नहीं सकता। यूँ समझिए, एक झोलाछाप डाक्टर थे। ऐसे झोलाछाप कि सरकार भी उनके अगेंस्ट नहीं जा सकती थी। वे गुजराती थे, पता नहीं वे कब आए इधर, दशकों से तो मैं देखता आ रहा था, अब कुछ वर्षों से समय-गैप बढ़ गया है। उनका नाम था चक्खन लाल मक्खन लाल ढक्कन वाला–चौंकने की बात नहीं, जब दारूवाला हो सकता है तो बोतलवाला भी हो सकता है, जब बोतलवाला है तो ढक्कनवाला क्यों नहीं हो सकता? हो सकता है और था। उन्होंने अपना उपनाम 'निश्फिकर' रखा हुआ था। मेरा उनसे अच्छा खाता-पीता परिचय था।

निश्फिकर जी कहा करते थे, मैं तो भाई 'सर्वदुख हरण बटी' बाँटता हूँ और वह भी मुफ्त। झोलाछाप जरूर हूँ, पर उनकी तरह इलाज के पैसे नहीं पीटता। मैं मजाक में कहता, निश्फिकर जी अगर मुफ्त में अफीम बाँटने लगोगे तो पुलिस आपको छोड़ देगी? वे झुंझला कर कहते 'जरा हाथ डाल के तो देखे पुलिस, उसका भी इलाज कर दूँगा अपनी सर्वदुख हरण बटी से। अब आप मेरे साथ थोड़ा अतीत में पहुँचिए, क्योंकि बात अतीत की है।

मैं कभी-कभी उन्हें 'निश्चिंत जी' कहकर छेड़ दिया करता हूँ तो वे

बनावटी क्रोध में उत्तर देते हैं, 'अमा पण्डित जी, इस बात से आपकी संघी मानसिकता की बू आती है। 'निश्फिकर' से आपको क्या परेशानी है? जब हिन्दू-मुस्लिम गले मिल सकते हैं तो हिन्दीं और उर्दू क्यों नहीं? इन्सान को इतना निश्तकल्लुफ नहीं होना चाहिए कि किसी के नाम को बिगाड़ डाले।' 'सॉरी' कह कर मैं प्रसंग समाप्त कर देता हूँ।

अपने घर के आगे उन्होंने एक बोर्ड टाँगा हुआ है जिस पर अंग्रेजी में लिखा है, 'ट्राइ टु फाइंड आउट समथिंग आउट ऑफ नथिंग!' यही उनका जीवन-दर्शन है। एक दिन डी.टी.सी की बस में मेरी जेब कट गई। मैं दरियागंज से बस में चढ़ा और लालकिले के स्टॉप पर उतर गया। बस इतनी थोड़ी दूर में ही किसी ने मेरी बैक पाकेट मार ली। भीड़ की सघनता का अनुमान इस बात से लगा सकते हैं कि मुझे पता था कि मेरी जेब कट रही है, इसे बचाना चाहिए, पर हिलना-डुलना भी मेरे वश में नहीं था, फलतः जेब कट गई। मैं मुँह फुलाए घर लौट रहा था कि सामने से निश्फिकर जी आते हुए दिखाई पड़े। मैंने उन्हें किस्सा सुनाया, 'निश्फिकर जी, आज तो हमारी जेब कट गई, मैं कोशिश करता तो उसे पकड़ सकता था पर अफसोस...! उन्होंने तुरन्त बात काटी और बोले, "अरे वाह! बधाई हो, खिलाओ मिठाई इसी बात पर।" मैं समझ नहीं पाया, थोड़ा आवेश में बोला, "क्या मतलब, मेरी जेब कट गई और आप कहते हैं खिलाओ मिठाई।" वे बोले, पण्डित जी, आप उसे पकड़ने की कोशिश करते तो वह आपके पकड़ाए में तो आता ही नहीं, हाँ इस समय आप या तो इर्विन अस्पताल में होते या फिर आपकी निगम-बोध घाट हेतु आपके महाप्रस्थान की तैयारी हो रही होती। पण्डित जी, यह मत सोचो कि तुमने क्या खोया, यह देखो कि तुमने क्या पाया।" उनकी इस बात से मुझे बड़ा सुकून मिला और जेब कटने का मेरा दुख दूर हो गया।

निश्फिकर जी का भतीजा डाक्टर है, उसका एक दिन एक्सीडेंट हो गया। स्कूटर में पीछे से एक जीप ने टक्कर मारी, स्कूटर आगे जाने वाले रिक्शा से जा भिड़ा, रिक्शा वाला सिर के बल सड़क पर गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई। भतीजे के स्कूटर का क्लच लीवर उसकी आँख में घुस गया। ऑपरेशन में उसकी आँख की पुतली निकाल दी गई। सभी परिवार जन रोनी सूरत लिए बैठे थे। निश्फिकर जी बोल पड़े, 'आज का दिन शुभ है, मिठाई बाँटो।' मित्र हितैषियों को बड़ा गुस्सा आया। एक

महिला क्रोध से बोली, 'जिस दिन तुम्हारे लड़के का एक्सीडेंट होगा और उसकी एक आँख निकाली जाएगी, उस दिन बाँटूँगी।'

निश्फिकर जी बोले 'भाभी आपकी सौगन्ध, मैं तो उस दिन मिठाई तो मिठाई, आतिशबाजियाँ छोड़ूँगा, दीवाली मनाऊँगा। अच्छा भाभी, यह बताओ क्या कुछ नहीं हो सकता था। हमें तो यह मौत को जीतकर आया हुआ दीखता है। भाभी! यह मत देखो हमने क्या खोया, यह देखो हमने क्या पा लिया? भतीजा डॉक्टर है, शादी शुदा है, बाल बच्चेदार है, एक आँख निकल गई तो किस बात की चिन्ता, कोई लड़की तो है नहीं जिसके विवाह में यह बाधा बने, देखना इससे इसकी डॉक्टरी में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। वहाँ दुखमग्न बैठे लोग, सचमुच नए सिरे से सोचने लगे।

पिछले सप्ताह निश्फिकर जी हाथ में बताशों भरा लिफाफा लिए मेरे घर आए। मेरे हाथ पर एक बताशा रखते हुए बोले, ''लो पण्डित जी, मिठाई खाओ।'' निश्फिकर जी यदा-कदा बर्फी बाँटते रहते थे, इस बार बताशा देखकर मैंने पूछा, ''निश्फिकर जी, आज बताशा?'' वे बोले, ''पण्डित जी, बर्फी बाँटने में सैकड़ों रुपए खर्च होते। अतः बर्फी न खरीद, पचास रुपए मैंने गुजरात भूकम्प कोश में दे दिए।'' मैं थोड़ा विचलित हुआ और बोला, ''निश्फिकर महोदय! गुजरात में इतनी बरबादी हुई, लाखों मर गए, बेघर हो गए और आप बताशे बाँट रहे हैं।'' उन्होंने उसी चिरपरिचित अन्दाज में उत्तर दिया, "पण्डित जी, ट्राई टु फाइंड आउट समथिंग आउट आफ नथिंग।" मैंने कहा, ''आपने गुजरात के महाविनाश में अनगिनत बिल्डिंगों के मलवे के ढेर में क्या कुछ पा लिया?'' वे बोले, पण्डित जी भूचाल आना था आ गया, मकान ढहने थे ढह गए, अनगिनत लोग मरने थे, मर गए—यह तुम्हारे बस का था न मेरे। अब दो बातें हैं—इस पर बैठ कर टसुए बहा लें या इस मलवे से कुछ अच्छी-अच्छी चीजें बीन लें। बताशा इसलिए है कि कम से कम सरकार तो बची रही। उड़ीसा के चक्रवात में तो वह भी धराशायी हो गई थी।'' थोड़ा रुककर उन्होंने फिर बोलना शुरू किया, ''हजारों मकानों के धड़ाधड़ गिरने की दिल दहलाने वाली आवाज, उससे उठी धूल, उसमें दबी असख्य लोगों की चीत्कार-ये सब मिलकर एक ऐसी आँधी के रूप में परिवर्तित हुए कि वह प्रेम की आँधी बन गई। पत्थर दिलों से भी प्रेम के झरने फूट पड़े, यहाँ तक कि भारत का जानी दुश्मन मुशर्रफ भी पिघल

गया। इसीलिए कबीर दास ने कहा कि 'बिरहा है सुलतान। कबीर ने उस इन्सान को श्मशान समान बताया है जिसे विरहानुभूति नहीं होती, यही तो वह विरह है जो मन आत्मा को इतना प्रांजल कर देता है कि विरही जन यह कह उठता है कि हे परमात्मा, ऐसा दिन तो किसी दुश्मन को भी न दिखाए—दुश्मन तक के लिए मंगलकामना, विरह ही पैदाकर सकता है। सहानुभूति की ऐसी आँधी पहले कभी देखी है आपने? इसलिए कहता हूँ कि यह मत देखो कि क्या खोया, यह देखो कि क्या पाया?" हमें दूसरों के हृदय में बसे प्रेम-भाव के दर्शन का मौका तो मिला।" कह कर निश्फिकर जी ने मेरी हथेली पर एक बताशा और टिकाया और अपनी खुशी का इजहार करते आगे बढ़ गए।

(इसका संक्षिप्त अंश नभाटा में प्रकाशित हुआ)

●

मोल तोल

एक था पहलवान। नाम था यमसिंह, काम था कुश्ती लड़ना। एक दिन जंगल में एक बरगद के पेड़ के नीचे यमसिंह, चिन्तित सा लेटा हुआ था। पास ही एक गधा-गधैया आपस में बतिया रहे थे। गधा पढ़ा-लिखा था जैसे—काशी पढ़कर आया हो। नाम था राका। गधैया गदराई सी थी और उम्र में गधे से काफी छोटी थी, नाम था यामा।

यमसिंह ने उनके आपसी वार्तालाप से जान लिया कि गधा बंगाल का जादू जानता है। जादू से वह जिसे चाहे उसे सारे जंगल का राजा बना सकता है। उनकी बातों को सुनकर यमसिंह उछलकर खड़ा हो गया और खटाक से उनके पास पहुँचा। तत्पश्चात् दण्डवत् होकर बोला, "प्रणाम, महाभाग़ो प्रणाम।"

'कौन है रे तू!' राका ने नाक पर रखे चश्मे के ऊपर से झाँकते हुए पूछा। यमसिंह ने कहा, "मैं हुजूर, मैं यमसिंह हूँ माईबाप, कभी राजा हुआ करता था, पर हाय री किस्मत, मेरा राज्य छिन गया और फिर से सड़क पर आ गया हूँ। अब आपकी शरण हूँ, मेरा उद्धार कीजिए।"

सुनकर गर्व से राका का सीना फूल गया, वह अपनी निमुच्छी मूँछों पर ताव सा देता हुआ बोला, "देख यमसिंह, हमारी पीठ पर सवारी गाँठेगा तो जहाँ तक तेरी नजर जाएगी, वहाँ तक राज्य तेरा होगा। तू बैठकर देख, तुझे पता लग जाएगा।"

यमसिंह ने जूती उतारी, हाथ पैर धोए और बड़े पूज्य भाव से बढ़ा राका पर सवारी गाँठने। इतने में गधैया बोली, "अबे ओए, तू मनुवादी है क्या?" यमसिंह बोला, "नहीं बिल्कुल नहीं।" "फिर जूती उतारकर, हाथ-पैर धोकर क्यों बढ़ा सवारी गाँठने?" यामा ने पूछा। "तो हाथ-पैर धोना, स्वच्छ होना क्या मनुवाद है?" यमसिंह ने हाथ जोड़कर कहा।

यामा वोली, "बिल्कुल-बील्कुल यही तो मनुवाद है। यह मनुवाद का बीज है। बढ़ते-बढ़ते यही फल-फूलकर विशाल वृक्ष वन जाता है।"

"सोरी आंटी जी।" यमसिंह ने थूक निगलते हुए कहा, "अबे सोरी होगी तेरी माँ, तेरी बहन। कलमुँहे, मुझे गाली देता है, मुझे आंटी कहता है, ऐसी मारूँगी दुलत्ती कि बत्तीसी बाहर आ जाएगी, बड़ा आया पहलवान, एक बार कुश्ती लड़कर देख, वो धोबीपाट मारूँगी कि दादी नानी याद आ जाएँगी, हरामखोर कहीं का,...तुझे मैं आंटी नजर आती हूँ!" यामा हथिनी के समान चिंघाड़ी और यामा ने तर्जनी से इशारा कर यमसिंह को आँखों से कहा, "बैठ जा राका की पीठ पर।" यमसिंह उचक कर राका की पीठ पर बैठ गया। राका ने एक जोर की हुँकार भरी। देखते ही देखते राका का आकार अलादीन के चिराग से निकले जिन्न की भाँति आसमान को छू गया। राका ने पूछा, "बोल जमूरे! तुझे कहाँ तक दिखाई पड़ रहा है?" यमसिंह ने उत्साहित होकर बताया, "मुझे तो नखलऊ से दिल्ली सीमा पर बसे गाजियाबाद तक का नजारा नजर आ रहा है मेरे आका और पूरब में गोरखपुर, देवरिया तक।" "बस तो बच्चा, तुझे यहीं तक का राजा बनाया जाएगा।" राका ने कहा। "शुक्रिया, मेरे मालिक शुक्रिया।" यमसिंह गद्‌गद हो उठा।

देखते ही देखते, राका ने सारे जंगल पर यमसिंह का अधिकार करवा दिया और उसकी ताजपोशी का भी ऐलान कर दिया। ताजपोशी से पहले राका ने यमसिंह से कहा, "एक बात कान खोलकर सुन ले जमूरे! राजा का ताज होगा तेरे सिर पर, पर हुक्म चलेगा हमारा। एक बार को तुझसे मेरी उपेक्षा हो गई तो माफ़ी मिल सकती है, पर मेरी यामा की उपेक्षा हुई तो तड़ाक् से तेरी जबाड़ी पर इसकी दुलत्ती पड़ेगी। हम कहेंगे, बैठ जा, तो तू बैठ जाया करेगा। हम कहेंगे, खड़ा हो जा, तो तू खड़ा हो जाया करेगा। हम कहेंगे घूम जा, तो तू घूम जाया करेगा। हम पूछेंगे, बोल क्या खाएगा? तो तू क्या कहेगा, बता?" यमसिंह ने तपाक से कहा, 'जलेबी', "नाईं, नाईं जलेबी नहीं, आपके चरणों की धूल बोल, धूल।"

"हाँ हुजूर धूल!" यमसिंह ने सोचा, "जब माई-बाप कह ही दिया तो फिर शंका काहे की?" राका ने आश्वस्त होकर कहा, 'ठीक है पट्ठे! जा तू भी क्या याद करेगा कि किसी रईस से पाला पड़ा है। बना देते हैं

तुझे राजा। तेरे राज्य का नाम होगा उ.पी, खासियत होगी जिसकी लाठी उसकी भैंस और स्पेशियलिटी होगी, तू नहीं और सही। अब कुछ अच्छी-अच्छी योजनाएँ बना डाल, जैसे प्रदेश के हर चूहे के द्वार पर एक कत्तर लटकवा दे ताकि वे खुद को बजाज समझकर मस्त रहें। जितने हमारे अपने हैं उन सबको नौकरी दे। नौकरी नहीं हैं तो नौकरी-पैदा कर, ऐसा कर कि अगली बार लालकिले पर झंडा-फहराना मेरे लिए आसान हो जाए। बस अब जा, कर मौज।''

और यमसिंह राजा बन गया। यमसिंह के बेटों-भतीजों ने भी बाप के राजा होने का भरपूर फायदा उठाया। यहाँ तक कि उसके चेले चपाटों ने, चारों ओर लाठियाँ भाँजनी शुरू कर दी, हर जगह उसका नाम ले लेकर जबरदस्ती चंदे के नाम पर लूट मचानी शुरू कर दी, सारे राज्य में यमसिंह के नाम का आतंक फैल गया। इतना सब कुछ होने पर भी यमसिंह को सुकून नहीं मिला।

वह गधैया के व्यवहार से बहुत दुखी रहने लगा, वह अक्सर मन ही मन बुदबुदाया करता था, ''लगता है उसे सीसा देखे पन्द्रह बीस साल हो गए हैं। अभी भी यह गलतफैमी में है और संसकिरत के उस सलोक 'पिरापते, सोड़से बरसे गर्दभी अप्सरायते' जैसा आचरन करती है। भुगत लूँगा इसे एक दिन, आखिर पहलवान हूँ, ऐसा धोबीपाट मारूँगा कि चारों खाने चित्त आएगी।'' और वह शान्त होकर राज्य चलाने में लग गया।

(इसका संपादित रूप दिनांक 31.10.2000 के नभाटा में प्रकाशित हुआ)

●

एटोज़ स्कूल ऑफ ऑल स्किल्स

(कला पारंगत बनाने वाला एक अनूठा विद्यालय)

राम भूल शर्मा, उर्फ आर.बी.शर्मा, मेरा लंगोटिया यार, एक लम्बे अरसे बाद मेरे दिलो दिमाग में, बिन बुलाए, अनचाहे मेहमान की भाँति प्रविष्ट हुआ। हम दोनों में मीठी-मीठी नोंक-झोंक हुआ करती थी जो सिर्फ नाम बिगाड़कर बोलने तक ही सीमित थी। मैं उसे कहता, "ऐ रामजी की भूल, वह मीठा सा बुरा मानता।"

"यार तू मनै राम जी की भूल क्यूँ कहवै?"

"राम जी की गलती तो नहीं कहता, भूल ही तो कहता हूँ।"

"भूल नै गलती ई तो कहवैं।"

"अच्छा चल राम जी की भूल, नहीं रामफूल कहता हूँ"–'रामजी का फूल'।

''न्यूँ तो फूल गोब्भी का बी होवै, पर मनै मंजूर।" फिर मैं उसे आवाज लगाता, "ऐ रैमफूल" वह चिढ़ जाता, "तू मनै इस ढाळ बुलावै ज्युँक्कर डैमफूल बुला र्‌या हो।" मैं उसे समझाता "अबे, ये फैशन है, इस तरह बोलने से, नाम में एक आकर्षण पैदा होता है, देख, इतने बड़े मेरठ कॉलेज में तुझे सब जा़न गए हैं कि तू रैमफूल है, मुझे कोई नहीं जानता, मेरे बाप ने मेरा नाम रख दिया, विद्याभूषण, बोलने में भी जीभ झटके से मारने लगती है, किसे अच्छा लगता है यह पंडिताऊ नाम?" वह भी मेरा नाम बिगाड़कर बोलता, "ऐ बिद्दा के भुस।" मैं भी बुरा नहीं मानता। पुरानी बात है, एक दिन मेरे आठ वर्षीय पुत्र ने रुआँसा होकर मुझसे शिकायत की थी, "पापा मेरा नाम बिगाड़ कर ज्योति मुझे चिढ़ाती है।" मैंने तुरन्त उसके हाथ में प्रभावकारी नाम–बिगाड़ास्त्र थमा दिया, "अबसे बेटा तू उसे जोर से पुकारना, हैलो मिस जूती।" हथियार ने स्ट्रॉयड दवा

की भाँति काम किया, ज्योति ने उसे चिढ़ाना बन्द कर दिया। खैर, हिन्दी में एम.ए. कर लेने के बाद भी रामभूल ने माताजी की बोली का पल्लू नहीं छोड़ा, बोलने का स्टाइल, लहजा उसका वही देहाती रहा। कभी उसे टोकता, तो वह कहता, तू तो बाबूजी बण ग्या है ना, इतरा कै बोल्लै, मैं तेरी ढाळ नल्लाक नईं जो अपणी माता-बोल्ली का अपमान करूँ।"

हाँ तो मैं कह रहा था, रामभूल के विषय में। पढ़ाई-लिखाई में कभी उसने जहमत नहीं उठाई, उठाता भी क्यों, जब परीक्षा में, औरों की भाँति, नकल-नुकल कर, आगे-पीछे के परीक्षार्थी से पूछताछ कर, थोड़ी बहुत, इन्विजिलेटर गुरुजी की महती कृपा से, उसका काम चल सकता था? फिर उसे क्या बावले कुत्ते ने काटा था जो पढ़ाई-लिखाई की जहमत उठाता? गर्जे कि वह, बी.ए., एम.ए. थर्ड डिवीजन में पास कर गया। डिवीजन से उसे क्या फर्क पड़ता था, क्योंकि हमारे जमाने में पढ़ाई-लिखाई का उद्देश्य मात्र शादी था। लड़की वाला पूछता, "लोंड्डा के कर्रा अ?" लड़के का बाप, मूँछों-मूँछों में गर्वाता, हुक्के में जोर का कश मारते हुए कहता, "छोरा कोलिज पढ़ र्‌या अ," लड़कीवाला तुरन्त कहता, "मनै रिसता मंजूर।" लड़के वाला, भाव विशिष्ट चेहरे पर लाता हुआ कहता "जिब तम कैई र्‌ये ओ, तो थारी बात मैं क्यूँक्कर टाळूँ? मनै बी मंजूर।" फलतः बी.ए. प्रवेश के साथ ही रामभूल ने गृहस्थाश्रम में भी प्रवेश ले लिया, एम.ए. कर लेने तक वह एक अदद बाप की पंगत में आ बैठा था। मेरे पिता ने उतनी समझदारी का परिचय नहीं दिया।

मेरे जमाने में पेरेंट्स बड़े सुखी थे। उन्हें पता ही नहीं रहता था कि लड़का (लड़की नहीं) पढ़ाई में कैसा चल रहा है? (सहशिक्षा थी नहीं, कन्या पाठशाला भी नहीं दिखाई पड़ती थी) वह स्कूल जाता है, इसका अहसास उन्हें तब होता था जब महीने में एक बार उन्हें फीसार्थ इकन्नी की बलि चढ़ानी होती थी या चौक चाँदनी (गणेश चतुर्थी) को होता था जब स्कूल के बच्चे, नए-नए कपड़े पहन कर, उनके घर पहुँचकर बहुत आकर्षक दाँडिया खेलते थे, चौपाइयाँ गाते थे। मेरे इलाके के वयोवृद्ध ग्रामीण टीवी पर जब आज गुजराती दाँडिया देखते हैं तो मुँह बिचकाकर कमेंट देते हैं, "हुंह इसतै बढ़िया तो म्हारै छोट्टे-छोट्टे बाळक दिखा दिया करैंते। यह कटु सत्य है, मैं इसका साक्षी हूँ, हम प्राइमरी पाठशाला के बच्चे मनमोहक डंडे खेलते थे जिसकी स्मृति मुझे आज भी पुलकित करती

है। मेरे बचपन के समय के पितालोग आज के अभिभावकों की भाँति नहीं थे कि बच्चा पैदा होने से पूर्व ही, भावी शिशु की एजुकेशन के लिए बावले हुए फिर रहे हैं। यह कहकर मैं उनकी दुःखती रग पर हाथ रखना नहीं चाहता कि आज जीवन की सारी समस्याएँ एक तरफ और अकेली, बच्चे की शिक्षा एक तरफ। यह कहकर भी उन्हें हतोत्साहित नहीं करना चाहता कि अपने नन्हें मुन्नों पर तो तरस खाओ, उनकी पीठ पर लदे बस्ते के बोझ का अंदाजा तो लगाओ। स्कूल से घर आकर, बच्चे ने 'जैक एण्ड जिल' सुनाया नहीं—उनकी आत्मा तृप्त, लागत मय ब्याज वसूल, सारी थकान खत्म, वे परम संतुष्ट।

रामभूल और मैं बिछुड़ गए। मैं लेक्चररशिप हड़पने के चक्करों में, इधर-उधर की खाक छानता फिरता था। साक्षात्कार होता था, तकदीर पलटी मार जाती थी। एक जगह नियुक्ति हुई थी, लेकिन जीत हाथ से फिसल गई—मुझे हाल ही में घटित सीन याद आ गया। क्रिकेट वन डे मैच, मैच की आखिरी बॉल, जीत के लिए आवश्यकता पाँच रनों की, बॉलर आश्वस्त कि जीत हमारी झोली में—निमुच्छी मूँछों-मूँछों में मुस्कराता, गर्वीली आँखों से व्यंग्य-बाण छोड़ता, जीभ पर उंगलियाँ फिरा कर बॉल गीली करता, बॉल पेंट पर रगड़ता है और बॉल फेंकता है, बैट्स मैन घुटने टेककर जोरदार शॉट लगाता है, एक बिजली सी कड़कती है, गेंद आकाश में उड़ती है, ऊँचे, बहुत ऊँचे, बाउंडरी पर खड़ा फील्डर बॉल पकड़ने ऊँचे उछलता है। बैट्समैन हवा में बल्ला उछालता है, खुद ही उछल जाता है। और...और ये छक्का, बॉलर का मुँह उस पैसेंजर जैसा दिखता है जो प्लेटफार्म से स्टार्ट हुई ट्रेन के पीछे दौड़ता है और ट्रेन छूट जाती है—बकौल एक कवि उसकी दशा ऐसी हो जाती है—"जैसे छूटी ट्रेन जब मुँह बाए रह जाए।" साक्षात्कार के बाद, कॉलेज के बड़े बाबू ने कहा, "डाक्साब, बधाई, आपका अपोइंटमेंट हो गया, ठहरो लैटर लेकै जाणा, बाकी लोग जा सकते हैं।" लेकिन भला/बुरा हो विज्ञान की देन टेलीफोन का, वह टन...टनन...टनन...कर उठा, सेक्रेटरी, की आवाज सुनाई पड़ी, "हल्लो, हाँ जी, मैं चौ. मलखान सिंह बोल्लूँ, कोलिज का सिकटरी,...तम कौण? अच्छा-अच्छा, नमस्ते जी,...ठीक है, तम बेफिकर रहो।" मेरा माथा ठनका, थोड़ी देर में बड़ा बाबू आया, बोला, "डाक्साब, तम इब घर जाओ, थारे घर सूचना भेज दी जागी।" मैं जानता था जो सूचना आनी थी। मैं देख रहा था, कहीं किसी सिंह की नियुक्ति हो जाती

थी, कहीं गुप्ता, अग्रवाल, जैन....आदि की। हाँ एक बात सब में कॉमन थी, सभी डॉ. होते थे—बस टेलीफोन का आदेश अपवाद हो सकता था। मैं खुद को कोसता कि बेवकूफ क्या जरूरत थी, तुझे अपने नाम को भारद्वाज शब्द से अलंकृत करने की, ना लिखता तो कदाचित् किसी भुलावे में लेक्चररशिप टपक पड़ती। लेकिन ऊपरवाले के यहाँ देर है अंधेर नहीं, ऋषि भरद्वाज का आशीर्वाद फलीभूत हुआ और मेरी नियुक्ति एक कॉलेज में हो गई—देर आयद-दुरुस्त आयद।

किसी कार्यवश, मैं दिल्ली गया, गया क्या, जाना पड़ा। मेरा मानना है कि किसी का इसी जन्म में पापोदय होता है, तो वह दिल्ली में सैटिल होने के गौरव की तख्ती गले में लटकाए, कबूतर खाने जैसे दो कमरों वाले फ्लैट का जुगाड़कर, दिल्ली-हीन साथी को हेय दृष्टि से देखता फिरता है, लेकिन मैंने बचपन में अपनी माँ का इतना दूध नहीं पिया जो दिल्ली झेल सकूँ। लेकिन कभी न कभी, पीठ पर पड़े तकदीर के हंटर की पीड़ा तो भोगनी ही पड़ती है क्योंकि दिल्ली बिना गुजारा भी तो नहीं। अतः मैं बसों में लटक-लुटक कर, एक बस बदलकर दूसरी में पैसेंजरों के बीच सिर घुसेड़कर चढ़ा, कंडक्टर ने मुझे पीछे से धक्का दिया, आप्त वाक्य सुनाया, "आग्गे नै बढ़ ले आग्गे नै, ओ भाई साब, तनै सुणाई न पड़या के...बढ़ आग्गे" खुद पसीना-पसीना होता, दूसरों के स्वेदेत्र से आत्मतृप्त होता, जैसे तैसे संध्या तीन बजे अपने गंतव्य, डिफेंस कॉलोनी पहुँच ही गया जबकि मुझे वहाँ 12 बजे पहुँच जाना चाहिए था। बस से उतरते ही बैक पॉकेट में रखे अपने पर्स को सुरक्षित देख, मैं अपनी सारी पीड़ा भूल गया, पर एक पीड़ा मुझे सालती रही। कंडक्टर से लम्बे-तगड़े लड़कों की रोजाना की प्रणाम से अभिभूत अध्यापक से बस कंडक्टर के व्यवहार की पीड़ा सही नहीं जा रही थी, लेकिन संतोष था कि मेरी इस बेइज्जती का साक्षी कोई नहीं है।

चलते-चलते वहाँ एक बोर्ड पर मेरी नजर पड़ी—"एटोज़ स्कूल ऑफ ऑल स्किल्स" डायरेक्टर डॉ. राम. बी. शर्मा। बचपन से ही जिज्ञासु रहा हूँ, अतः 'एटोज़' का अर्थ जानने की उत्सुकता को मार न सका। स्कूल का गेट खोला और अन्दर घुस गया। प्रिंसिपल के कमरे में घुसते ही देखा कि एक सूटेड-बूटेड, चश्माधारी सज्जन कुर्सी पर बैठे ऊँघ रहे हैं, गर्मी का मौसम और कमरा हो ए/सी, ऊपर से काम कुछ हो नहीं, तो कौन होगा

ऊँघजयी। मैंने कहा, "एक्सक्यूज मी"। वे फटाक् से सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में पहुँच गए, बौले, "जिब बिना नोक किए, घुसपैठिए की ढाळ भित्तर घुस ई पड़े तो, आओ, बैठ्ठो" कुर्सी खींचकर बैठते हुए मैं बोला, "आप कुछ जाने पहचाने से लगते हैं।"

एकदम जैसे बम फट पड़ा हो, "खड्या हो जा," वे अपनी कुर्सी से खड़े होते हुए कड़क कर आगे बोले, "सुण्या नईं, खड्या हो जा।" मुझे एक करंट सा लगा, मैं डरा-डरा सा खड़ा हो गया, दोनों हाथ फैलाकर वे मेरी ओर बढ़े, मेरी घिग्घी सी बँध गई, उन्होंने खटाक से मेरी कोली भर ली, अबे विद्या के भुस, न्यू कहवै के जाणा पिच्छाण्या सा लगै, बेसरम।" "रैमफूल तू? यहाँ तेरे रंग-ढंग देखकर तो मैं सौ-सौ मील तक कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यह रैमफूल भी हो सकता है, हाँ तेरी बोली से कुछ-कुछ आभास तो हो रहा था।" हम दोनों बैठ गए, गिले-शिकवे हुए। रामभूल ने बैल बजाई, चपरासी का सलाम ठोकते हुए प्रवेश हुआ। ''दो पीपसी।'' "रामभूल ने 'वी' बनाती दो उँगलियाँ उठाकर इशारा किया। थोड़ी देर बाद मैंने पूछा यह बता रामभूल, कि तेरे "एटोज़ स्कूल" में यह 'एटोज' क्या है? क्या अर्थ है, इसका?" रामभूल बोला, "गुरु, यह तेरे वाला नुस्खा 'नामाकर्षण' है।" "पर इसका अर्थ भी तो कुछ होना चाहिए।" मैंने कहा "अबे तू हिन्दी का बड़ा पिरोफेसर हो गया है, यू बी कोई नई कविता है, जिसका अरथ पल्ले ना पड़ै, थोड़ा दिमाग खरच करैगा तो अरथ भी समझ जाग्गा। "न्यू कर एक कागज पै अंगरेज्जी में ए टू ज़ैड लिख—तीनों शब्दां नै एक साथ मिलादे तो 'एटोज' यानी ए टू जेड स्कूल ओफ ओल इसकिल्स।" रैमफूल की सान चढ़ी बुद्धि से मैं चौंधिया गया फिर बोला, "अच्छा रैमफूल, आखिर में एक बात और बता, तूने पी-एच.डी. कर ली जो नाम के पहले डॉ. लगा लिया?" उसने तुरन्त उत्तर दिया, "क्यूँ, पी-एच.डी. वाळे ई लिख सकैं डॉ.? होमोपैथी वाले डॉ. नईं होत्ते? रह गई पी-एच.डी. की बात, वो तो मैं कर नहीं सकता, थरड किलास हूँ वरना तो यूँ, यूँ चुटकियों में कर सकूँ हिन्दी में पी-एच.डी., रामभूल ने चुटकी बजाते हुए कहा। "बस, बस मैं समझ गया, तू न तो रामभूल है, ना रामफूल, नाही रैमफूल, बस है तो केवल डायरेक्टर डॉ. राम. बी. शर्मा। अच्छा अब चलता हूँ, बहुत देर हो चुकी है, जिस काम से आया हूँ, वह तो निपटा दूँ, बहुत देर हो चुकी है, पता नहीं घर

कैसे-कैसे पहुँचूँगा।''

रामभूल ने मेरी बाँह पकड़ ली। ''न्यूँ थोड़ेई जाण दयूँगा तनै, यू तेरे रैमफूल का घर है, कोई दिल्ली वाले का नईं जो मेहमान्ना के बारे मैं सौच्चैं, ''पता नईं साळा कद टळैगा।'' वाँह छुड़ाते हुए मैंने कहा, "अच्छा-अच्छा तेरे पास ही ठहरूँगा आज, अभी लौटकर आता हूँ।"

रामभूल ने बैल बजाई, चपरासी से कहा, "डिराइवर तै बोल, साव नै ले जाग्गा, जहाँ वे चाहें, फेर वापस यहीं ले आवैगा साव नै।" मैं सड़क पर निकल आया, ड्राइवर ने गाड़ी का दरवाजा खोला, मैं गाड़ी में बैठ गया और बोला, "केशव, कहि न जाइ का कहिए।"

●

ट्रेन वार्तालाप

(खड़ी बोली की लोक-संस्कृति का एक ट्रेलर)

एक दिन मैं, शाहदरा से बड़ौत की ओर जाने वाली पैसेंजर ट्रेन में सफर कर रहा था, मेरे सामने की सीट पर एक नवुयवक, सजा-धजा, इत्र फुलेल लगाए हुए, बढ़िया जींस, शर्ट पहने, इम्पोर्टेड गॉगल्स लगाए, एक उत्तम किस्म की सिगरेट में कश खींचते हुए, आराम से बैठा था। उसकी जुल्फे, जूते, आदि देखकर स्पष्ट दिखाई पड़ता था कि अभी बाप के पैसे पर ऐश कर रहा है क्योंकि उसकी आयु को देखकर लगता था कि अभी वह चक्की के दो पाटों के बीच से नहीं गुजरा है, इसीलिए साबुत है।

गाड़ी छुकछुक करना शुरू करती है, धीरे-धीरे रेंगती है, फिर ऐसे दौड़ने लगती है मानो किसी अजनबी छैल छबीले के पीछे गली का कोई कुत्ता भौं-भौं करके पड़ गया हो और छैल छबीला उसके डर से भाग खड़ा हो। या फिर ड्राइवर नामक सवार ने अपने घोड़े की पीठ पर चाबुक मार, लगाम खींचकर ढीली छोड़ दी हो और वह हिनहिनाता ढुलकी चाल चलने लगा हो। थोड़ी देर में गाड़ी लोनी स्टेशन पहुँच गई, और प्लेटफार्म पर रु.... क्, रु....क्, रु....क्, रुक कहती रुक गई। सामने वाला बाबू, जैसा कि हर लड़के की आदत होती है, गाड़ी प्लेटफार्म पर रुकते ही अपनी सीट पर रूमाल रख ट्रेन से उतर पड़ता है, प्लेटफार्म पर चहलकदमी करता है, गाड़ी सीटी मारती है, गार्ड हरी झंडी दिखाता है, गाड़ी रेंगना शुरू करती है, रफ्तार पकड़ती है, लड़का भागकर अपने डिब्बे में चढ़ जाता है और रूमाल उठाकर अपनी सीट पर बैठ जाता है। यहाँ सीन थोड़ा डिफरैंट था, यहाँ लड़के को, सीट पर रखे अपने रूमाल के ऊपर बैठे हुए एक वृद्ध ग्रामीण नजर आए।

लड़के ने, ग्रामीण की ओर, तर्जनी उठाकर इशारा किया, "उठिए" "क्यूँ" ग्रामीण ने कहा। "दिस इज माई सीट, सॉरी, यह मेरी सीट है।" "क्युंक्कर?" "इस पर मेरा रूमाल रखा हुआ था।" रूमाल रखण तै सीट तेरी वणगी?" "हाँ मेरी बन गई।" फिर उस वयोवृद्ध ने कहा, "ले बेट्टा, मनै पता नई था के रूमाल रखण तै सीट तेरी बण जाग्गी, ले उठ ग्या, खुस?" वह सरक कर बराबर वाली सीट पर बैठ गया, लड़का कुछ बड़बड़ाता सा, जींस पर किसी धूल के न लगने पर भी, हाथ से घुटने के ऊपर जींस झाड़ता सा अपनी सीट पर बैठ गया। ग्रामीण ने अपने कुर्ते की जेब से, कपड़े का एक मैला सा टुकड़ा निकाला और उसे बाबूजी के सिर पर रख दिया। "क्या बदतमीजी है?" कहते हुए सिर से ग्रामीण का रूमाल उतार फेंका, बैक पाकेट से कंघी निकाली और गर्दन इधर-उधर मोड़ते हुए, जुल्फों पर कंघी फिराई, कुछ बड़बड़ाते हुए बाएँ हाथ की अँगुलियाँ दोनों घुटनों पर इस तरह उठाई, गिराई जैसे कुछ झाड़ रहा हो, हालाँकि जींस पर कुछ भी नहीं पड़ा था।

ग्रामीण बोला, "बेट्टे तु तो बुरा मान ग्या, मैं तो तनै अपणा बणा र्‌या था। मनै पक्का यकीन है काल नै तू किसी सोहणी सी छोरी के सिर पै रूमाल धर कै उन्नै अपणी बनाण का हक जमा बैट्ठेगा।" "वॉट नॉनसैंस?" "गाली दे र्‌या अ?" मनै सोच्ची थी, इब तू मेरा हो गया बेट्टे! बुरा ना मान, मैं ठहरा बिना पढ्या, मेरी मोटी बुद्धी मैं तो यू ई आया के जिब रूमाल रखण तै जड़ चीज अपणी बण सकै तो हाड़-मांस का चलता-फिरता माणस अपणा क्यूँ नई बण सकता?"

"यू शट् अप"। "मैं भी तनै सट्अप कै सकूँ, तू सट् अप, इतनी अंग्रेजी मनै भी आवै। लाल्ला रे, अपणी सीम में ई रह।" "आप अपनी बकवास बन्द करेंगे या नहीं?" "मैं बकवाद कर्रा ऊँ और तू मनै लड्डू खुवा र्‌या अ।"

लड़का और अधिक भड़क उठा, क्रोध में बोला, "यू..." हाँ-हाँ बोल के कहवै, तम लोग के कै सको, मनै डोग, बोग कै सको, पर तम लोग्गाँ ने यू पता नई के मैं भी तनै, पपी कै सकूँ, पपी, आ तुले, तुले।" लड़का क्रोध से लाल पीला हो गया, "बोला" मुझे पपी कहा, यू डॉग।"

पजाम्मे तै बाहर ना लिकड़, होस मैं रह, मोटा सा गणित ना समझ में आवै? तूने कह्या डोग, मैंने कह्या, 'पपी', जिब मैं तनै बेट्टा मान्नूँ तो

बता डोग का बेट्टा कोण हुया, पिल्ला, पिल्ले नै तो थारे यहाँ पपी कहवे—मैं डोग, मनै मंजूर, फेर तू मेरा बेट्टा हुया पपी, और तेरी माँ कौण हुई? बता, बता, कोण हुई तेरी माँ, चुप क्यूँ अ? मैं बताऊँ? पर मैं उस बिचारी नै कुतिया कहकर उसकी बेइज्जती नई कर सकता, औरत जात ने गाळी नई देणी चहियै।'' लड़के ने आवेश में 'चाँटा' मारने के लिए हाथ ऊपर उठाया, ग्रामीण ने झट उसकी कलाई पकड़ ली, वह अब आपे से बाहर हो गया, उसने लड़के का हाथ मरोड़ते हुए कहा 'तोड़ दूयूँ इन्नै मूळी की ठाळ? इब छुड़ा गट्टा, माँ का दूध पिया है तो छुड़ा गट्टा, तेरे भसरे (मुँह) पर ऐसा दड़ाक (चप्पड़) दूयूँगा खींच कै, के दिन में तारे नजर आ जाँग्गे, चल्या बाबूजी बणकै, एक थप्पड़ का तो दम नई, उठा कै फेंक दूयूँगा डिब्बे तै बाहर, बाप के पैसे पै अकड़ दिखा र्‌या अ, जिब खुद कमावैगा ना, चल जाग्गा पता, दाई तो इबलो फिरै पैसे माँगती, समझ र्‌या अपणे नै सेर (शेर) और तनै यू नई पता, सेर के ऊपर सवा सेर बैठ्या है, दो हरफ के पढ़ ग्या, अपणे नै अपलातून समझण लग्या, तुज्जैसे लफंडे रोज देक्खूँ, धूप में बाल सफेद ना करे, सब समझूँ मैं, इतना बी नई पढ़या के, बड़याँ तै किस ढाळ बात करणी चहियै, पढ़े किंग्घे (कहाँ) तै जुलफाँ में तेल चुपड़ कै, कंघी पट्टी करके छोरियाँ के आग्गे पिच्छै फिरण तै फुर्सत मिलै तो पढ़ै बी, सिगरैट पी कै बाप का पैसा फूँक र्‌या अ।'' वह तो रुकने का नाम ही नहीं ले रहा था, बाबू जी चुपचाप सुने जा रहे थे। मैं बोला, ''छोड़िए ना चौधरी साहब, इस बेवकूफ को, अभी इसे इलाके का पता नहीं, लगता है, इधर पहली-पहली बार आया है।' मैंने बाबूजी की ओर आँख मारकर कहा, ''चल रे माफी माँग चौधरी साहब से।'' वह इतना डर गया था कि उसकी घिग्घी बँधने को तैयार। लाचार होकर उसने कहा, ''सॉरी, गलती हो गई।'' ''हाँ, हाँ, ये सोरी-बोरी अपने सहर में ई कहणा यहाँ ताऊ, दाद्दा, चाच्चा कहवै बड़े बुढ्या नै। यहाँ भूलकै वी तनै किसी वीरबान्नी (स्त्री) तै सॉरी कह दिया तो बेट्टे एक दड़ाक मारेगी तेरे मसरे पे और बोल्लैगी—''लुच्चे लफंगे, बदमास, तेरी माँ सोरी, तेरी भैण सोरी, जनानियाँ ने गाली लिकाड़ै (निकालै)। उसका क्रोध कम ही नहीं हो रहा था। मैंने कहा, ''चौधरी साहब, इसने माफी तो माँग ली।'' चौधरी का क्रोध बाँध तोड़कर उफन पड़ा, उन्होंने मुझे एक धक्का दिया, ''हट परे नै, बड़ा आया समझाणवाळा, अरै मनै समझावै, तनै पता नई, मैं जाट

हूँ जाट, बिना पढ़्या जाट पढ़े जैसा, कदी सुण्या नई के?'' मैंने अपने असली रंग में आते हुए कहा, ''सुण्या क्यूँ नई ताऊ रोज सुणूँ, इस रेलगाड्डी में तो इस तराँ के जलवे रोज होवें।'' चौधरी साहब एकदम नार्मल होते हुए बोले, ''अरै तू तो म्हारे इलाक्के का लिकड़्या, के करै अ लाल्ला?'' ''थारे बाळकाँ नै पढ़ाऊँ, उसी इलाक्के का ऊँ।'' ''लगै खरबुज्जै नै देख के खरबुज्जा रंग पलट ग्या, तनै बी सहर की हवा लग्गी अ, बाबूजी बण ग्या अ।'' ''ना ताऊ मैं तो थारा ई छोरा ऊँ।'' इतनी देर में खेकड़ा स्टेशन आ गया, चौधरी साहब उतरकर चले गए।

यह घटना काफी पुरानी है, तब यहाँ छोटी लाइन हुआ करती थी। रेल की बड़ी लाइन तो बहुत बाद में बिछी। यहाँ के लोग, छोटी लाइन वाले के नाम से मशहूर थे और आज भी लोगबाग, विशेषतः दिल्ली वाले, इन्हें 'छोटी लाइन वाला' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस ट्रेन के सभी यात्री एक जैसे होते हैं, एकदम प्रकृत, कोई दिखावा नहीं, निष्कपट, जूती उतार सीट पर पालथी मारकर बैठ जाना, बीड़ी पीना, ताश खेलना, हँसी-मजाक करना आदि। सब एक स्वभाव के, जिसमें दिल्ली में सेवारत कर्मचारी विशेषतः अध्यापक, श्रमजीवी, चपरासी, दूधिए, लाला, पंडित, सब बराबर। न कोई छोटा न बड़ा, सभी एक बोली के अभ्यस्त, भीड़ होने पर तीन की सीट पर आठ व्यक्तियों का प्रेमपूर्वक एडजस्ट कर लेने की भावना, सीट न मिली तो दूधियों के डिब्बों को चेयर बनाकर उस पर बैठ जाना, कोई संकोच नहीं। तीन की सीट पर किसी चौथे, पाँचवे, छठे, सातवें यहाँ तक कि आठवें तक को बिठाने से आप इंकार नहीं कर सकते, वह अधिकार-भावना पनपती ही नहीं, यहाँ के लोगों में, यहाँ की लोक संस्कृति, यहाँ का वाग्वैदग्ध्य, यहाँ की हाजिरजवाबी के प्रकृत रूप के दर्शन करने हो तो इस ट्रेन में एक बार शाहदरा से शामली तक अपडाउन कर लीजिए। आपको ऐसी-ऐसी कटूक्तियाँ, व्यंग्य, निरुत्तर कर देने वाले प्रश्न, वर्जिन उदाहरणों से परिपूर्ण लोकमानस के दर्शन होंगे कि आप सोचेंगे कि इस प्रकार की उपमाओं दृष्टान्तों का उल्लेख ये जिस सहजता से कर देते हैं, कवियों को भी ऐसी उपमाएँ ढूँढने में मशक्कत करनी पड़ेगी।

एक बात और—अपने उदाहरण की पुष्टि में यदि इन्हें बाप की शान में भी कुछ कटुतापूर्ण उल्लेख करना पड़े तो ये चूकते नहीं। स्व. चौधरी चरण सिंह को इस इलाके ने देवतुल्य आदर का सम्मान दिया हुआ है, मेरे

समक्ष उस ट्रेन में एक दिन एक ऐसा ही दृश्य प्रकट हुआ। मैं ट्रेन से जा रहा था, बराबर में दो व्यक्ति बैठे थे। गाड़ी जब शाहदरा से चलकर बड़ौत के पास पहुँची, दोनों व्यक्तियों में से एक बहस छिड़ गई—पहला—"अरे यह इलाका है जिसे लोगबाग बहुत बढ़िया कहते हैं, हमारे इलाके के सामने तो यह कुछ भी नहीं है।" दूसरा व्यक्ति बोला, "चौधरी साहब किस इलाके के हो।" "मैं भैया भटौणा का हूँ।" "अच्छा वो भटौणा जहाँ का चौधरी चरण सिंह था।" "हाँ-हाँ वही, चौ. साहब हमारे ही यहाँ के थे।"

'हूँ...चौ. चरणसिंह थारे इलाके का था, और थारे इलाक्के के चरण सिंह नै, म्हारे इलाक्के के लोग्गाँ नै चौ. साहब बणवा दिया, एम.एल.ए बणवा दिया, मुख्यमन्त्री बणवा दिया, एम.पी.बणवा दिया, प्रधानमन्त्री तक बणवा दिया, थारे उस चरणसिंह नै, ज़िसपै अपनी वकालत तक नहीं चली, हमने उसे इतना बड़ा देस चलाण वाला बणवा दिया, ऐसा बणवा दिया कि नेहरू तक ने...तक का जोर लगा लिया पर थारे उस चरणसिंह नै म्हारे इलाक्के नै कदी हारण नहीं दिया, बड़ा आया म्हारे इलाक्के की बुराई करणवाला अरै तेरे इलाक्के में इतनाई दम है तो तू म्हारे एक काबिल ते काबिल छोरे नै एम.एल.ए. ही बणवा कै दिखा दे, जा मान जाँगे तेरे इलाक्के नै अपणे तै बढ़िया।"

मैं हतप्रभ रह गया, इस हाजिर जवाबी से। तू तड़ाक से बोलना, यहाँ की सभ्यता का प्रकृत अंग है, यहाँ बाप, ताऊ, चाचा, मामा सभी को 'तू' से सम्बोधित करते हैं, समझदार लोग इस बात का बुरा नहीं मानते, और इस सम्बोधन में निरादर कहीं नहीं अपनत्व रहता है।

लोग कहते हैं—यार तूने तो मेरी ऐसी-तैसी मार दी के स्थान पर ये अपनी माँ-बहिन तक को स्थानापन्न कर कह देते हैं कि "तूने तो मेरी मा...दी। किसी को मामा कहकर अपनी भड़ास निकालते हैं—टी. टी. के लिए खास तौर से कहते हैं—"माम्मा आ लिया"—मामा गाली है, अपना साला न कहकर 'बाप का साला' कह दिया, कैसी व्यंग्योक्ति! इन्हीं सब कारणों से मैं इस लोक संस्कृति पर मुग्ध हूँ।

●

ब्रह्मानंद सहोदर

कक्षा 7 से स्नातकोत्तर कक्षा तक साथ निभाने वाला मेरा एक सहपाठी है डॉ सक्सेना, रसायन शास्त्र की एक नामी गिरामी हस्ती, अब सेवा निवृत्त। कद बमुश्किल साढ़े चार फुट, भेजा मुझसे दस गुना अधिक, रंग सांवला, बाल्यावस्था से ही चश्मा-शोभित। पहले, हाईस्कूल तक एक स्कूल, फिर इंटरमीडिएट से पी-एच.डी. तक रिकाग्नाइज्ड मेरठ कॉलेज। संस्थाएँ हम दोनों की एक ही रहीं। मैंने हिन्दी में पी-एच.डी. किया, उसने कैमिस्ट्री में। बुद्धिमान इतना कि मुझे कहने में शर्म नहीं कि हिन्दी का ज्ञान, उसे मुझसे कहीं अधिक है। 7 वीं से लेकर दसवीं तक आते-आते उसने स्कूल पुस्तकालय की सभी हिन्दी-पुस्तकें उदरस्थ कर डाली थी। टीचर पढ़ाते रहते थे, वह पीछे बैठा बाएं हाथ की मुठ्ठी से चने के दाने, एक-एक कर, स्पिन बालिंग सी करता, मुँह में फेंकता जाता, दाएँ हाथ के अँगूठे और तर्जनी से पुस्तक के पन्ने पलटता रहता। परिश्रम करने के बाद भी परीक्षाफल में मैं उससे पिछड़ जाता था। तब हाईस्कूल एक ऐसा जंक्शन हुआ करता था, जहाँ से करियर ट्रेनें अलग-अलग दिशाओं की ओर छूटती थी। मैंने कला-ट्रेन पकड़ी, वह विज्ञान की ट्रेन में सवार हो गया। मेरी ट्रेन पैसेंजर सिद्ध हुई, उसकी तूफान मेल। मुझसे पहले पी-एच.डी. कर गया, और दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रतिष्ठित कॉलेज में कैमिस्ट्री का लेक्चरर बन गया, मेरी गाड़ी हर स्टेशन पर ठहरते-ठहरते, काफी लेट अपने गंतव्य पर पहुँची।

मैं और सक्सेना स्कूल टाइम में एक-दूसरे से मजाक करते थे। जातीय विशेषताओं से भरे मजाक भी हम खूब करते थे। वह कहता था—"बामन का पूत कोई जिन्न कोई भूत, बिरला सपूत"—मेरी ओर फिर इशारा करके कहता, मित्र तू तो बिरले सपूतों में है, बुरा क्यों मानता है?"

मैं उसे कहता—"कायस्थ का बच्चा, दिमाग का अच्छा, पर दिल का कच्चा—उड़ने वालों में पतंग और चौपायों में चारपाई को छोड़, सब कुछ हजम कर लेने वाला प्राणी।" न वह बुरा मानता, न मैं, मित्र-धर्म, सब धर्मों के ऊपर जो ठहरा।

सक्सेना से अक्सर मुलाकात होती थी। कंजूस अव्वल दर्जे का। उसका गणित अलग किस्म का। वह प्रतिदिन मेरठ से दिल्ली विश्वविद्यालय, बस से आता-जाता रहा। मैंने एक दिन कहा, "यार सक्सेना, ट्रेन का पास क्यों नहीं बनवा लेता, इतना खर्च क्यों करता है रोजाना बस में?" वह कहता, "मैं वर्ष में वेतन तो लेता हूँ 365 दिनों का, कॉलेज जाता हूँ वर्ष में बमुश्किल 75 दिन। सब छुट्टियाँ काट-कूट कर, इतने ही लेक्चर होते हैं। 365 दिनों में 75 दिन ही बस का टिकट लेता हूँ, तो फिर ट्रेन पास में 365 दिन का किराया, क्यों दूँ, क्यों ट्रेन पकड़ने की लबड़-धपड़ में पड़ूँ, क्यूँ ट्रेन छूटने पर मुँह बाए खड़ा रहूँ, क्यूँ धक्के-मुक्के खाता ट्रेन में उतरूँ-चढ़ूँ, ऐसी गुलामी मैं नहीं बर्दाश्त कर सकता, आराम से जाता हूँ, बस वाला प्रेम से आवाज लगाकर बुलाता है, दिल्ली-दिल्ली, मेरठ-मेरठ। बढ़िया सीट छाँट कर बैठता हूँ। किसी का गुलाम नहीं, मौज में आता हूँ, मौज में जाता हूँ, मौज में रहता हूँ।

हिन्दी का अनन्य प्रेमी है डॉ सक्सेना। जब भी उससे भेंट करता हूँ, हिन्दी पर चर्चा जरूर होती है। एक बार वह बोला, "अच्छा मित्र, यह बता, तू तो हिन्दी प्रवक्ता है, काव्यशास्त्र पढ़ाता होगा, यह बता 'ब्रह्मानंद सहोदर' क्या है? मैंने कहा, "ब्रह्मानंद की व्याख्या नहीं की जा सकती, उसकी अनुभूति की जा सकती है, गूँगे का गुड़ है, साहित्य से विशेषतः काव्य से ग्रहण किया जाता है।" उसने कहा, "यह बता, इसे विद्यार्थियों को किस प्रकार समझाता है? कुछ उदाहरण तो पेश कर, मुझे दिखा तो सही ब्रह्मानंद सहोदर, वह कैसे मिलता है?" "अरे कह तो चुका हूँ, यह अनिर्वचनीय है, बस इसकी अनुभूति ही की जा सकती है।" जब मैंने देखा कि यह पीछा नहीं छोड़ेगा तो मैंने पीछा छुड़ाने के लिए कहा, "सच कहूँ सक्सेना, तुझसे क्या झूठ बोलना, मुझे कभी नहीं, कहीं नहीं हुए ब्रह्मानंद सहोदर के दर्शन। ब्रह्मानंद सहोदर के तो क्या, कभी ब्रह्मानंद सहोदर के पड़ोसी के भी नहीं हुए, यहाँ तक कि ब्रह्मानंद के मोहल्ले के भी किसी व्यक्ति के दर्शन नहीं हुए, हाँ मेरा एक भानजा ब्रह्मानंद जरूर

है, दिल्ली सरकार के प्रायमरी विद्यालय में अध्यापक रहा है, उसकी कर्मठता की हरी-भरी बगिया को देखता हूँ तो मन प्रसन्न हो उठता है, बस उसमें कभी-कभी ब्रह्मानंद की झलक पा लेता हूँ। अब बता तुझे कहाँ से दिखाऊँ ब्रह्मानंद सहोदर?" थोड़ा रुक कर मैं उससे फिर बोला।

"भैया सक्सेना, मैं कुछ बातों में, उन हिन्दी विद्वानों, आलोचकों से कभी सहमत नहीं हुआ, जो अपनी अंटी की अक्ल का छदाम भर भी खर्च किए बिना, अपने पूर्वजों की बातों पर नेत्र बन्द कर विश्वास करते हैं। किसी बड़े आचार्य विद्वान ने कबीर आदि की रचनाओं की टीकाएँ लिखी। आने वाली पीढ़ियाँ उसे आप्त वाक्य मानकर स्वीकार करती चली गई। ऐसों से मैं भिड़ जाता हूँ और उनकी बात न मानकर उसकी हानि भी उठाता हूँ। एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ सक्सेना तेरे सामने, उनकी हठधर्मी और इसके अगेंस्ट खड़े अपने अड़ियल स्वभाव का। कबीर ने कहा है—"काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे नाल सरोवर पानी।" सभी लोग मेरे अतिरिक्त, पूर्व आचार्यों द्वारा बताया 'नाल' का अर्थ 'नलिका' करते आ रहे हैं। मैं कहता हूँ, नाल का अर्थ निकट है। पंजाबी में नाल, निकट को कहते हैं। कौन नहीं जानता कि कबीर की भाषा पंचमेल खिचड़ी है, कबीर ने पंजाबी के शब्दों को भी ग्रहण किया। तो यहाँ नाल का अर्थ पास है—नलिनी के निकट जब सरोवर का पानी है, तो कुम्हलाने का क्या कारण? अब कोई हिन्दी वाला, इसे मानने को तैयार नहीं, वे नाल को डंडी ही मानते हैं, कमलिनी जल के भीतर है ना, इसलिए वे यह दलील देते हैं। मैं अपनी बात की पुष्टि के लिए कहता हूँ—विद्वज्जनों, यह बताइए, 'तेरे नाल' का क्या मतलब? नलिका के सन्दर्भ में होना चाहिए था, "तेरी नाल सरोवर पानी।" फिर तो कोई झगड़ा ही नहीं था, झगड़ा 'तेरे,' 'तेरी' का है तेरे नाल का अर्थ तो तेरे पास ही रहेगा। वे न मानते हैं तो न माने, पर मैं उनकी बात क्यों मानूँ? यह भी कोई तर्क हुआ कि पूरब के किसी आचार्य ने (जिसका पंजाबी से कोई वास्ता नहीं पड़ा) नलिका अर्थ लिया है, अतः हम भी नाल का अर्थ नलिका ही निकालेंगे। हम पश्चिम वाले पंजाबी के बहुत टच में है, अतः नाल का अर्थ भली प्रकार समझते हैं। पश्चिम वाले इलाके के लोग हैं कि वे इतने आराम-तलब हो गए कि बुद्धि को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहते।"

सक्सेना मेरे दृष्टांत से ऊब गया। बोला, "यार, ब्रह्मानंद सहोदर की

व्याख्या नहीं कर सकता तो मत कर, पर इधर-उधर तो न भटका मुझे! चल मैं कराता हूँ तुझे ब्रह्मानंद सहोदर के दर्शन। मैंने कहा, "यार दिखा कैसा है ब्रह्मानंद सहोदर।"

"ऐसा कर, किसी दिन कड़कड़ाती सर्दी में प्रातःकाल दो प्याले चाय पीकर, लघुशंका से निवृत्त हुए बिना, ऑटो में बैठकर कश्मीरी गेट आई. एस.बी.टी. पहुँच जा, वहाँ 40-50 किमी. दूर, मेरठ, पानीपत वगैरह कहीं का टिकट लेकर बस में बैठ जा। तुझे लघुशंका का कुछ प्रेशर सा मालूम होगा, तो तू इस डर से उस लघुशंका का निवारण नहीं करता कि कहीं बस न छूट जाए, बस चल पड़ती है, बराबर वाली खिड़की से ठंडी हवा तेरे मुँह पर थप्पड़ मारती है, तू शीशा बन्द करता है, बस की धड़-धड़ के कारण थोड़ी देर में शीशा फिर खिसक जाता है, तू फिर बन्द कर देता है, तू बर्फीली हवा से पिटता रहता है, उसका डटकर मुकाबला भी करता है, शीशा बन्द करता है, एक ऐसा दृश्य उत्पन्न हो जाता है मानों कोई बड़ा आदमी किसी ढीठ बच्चे को थप्पड़ मारता है, वह कहता है, अबके मारके देख, वह फिर थप्पड़ मारता है, वह फिर कहता है, अब के मार के दिखा, ढीठ बच्चा पिटता रहता है, बड़ा पीटता रहता है, तू भी वैसा ही पिटे जा रहा था, ऊपर से प्रेशर क्षण-क्षण जोर पकड़ता जाता है, तू पिटाई भूलकर, प्रेशर से युद्ध करना शुरू कर देता है, धींगा-मुश्ती होती रहती है, मानों तू दरवाजा बन्द कर रहा हो और वह उदंड दरवाजा तोड़कर बाहर भाग जाना चाहता है, तू अपनी हार भी मानने को तैयार हो जाता है, उसके हाथ-पैर जोड़ता है, गिड़गिड़ाता सा है, अबे रुक जा मेरे बाप, क्यूँ मेरी आबरू उतारने पर तुला है, बस के बस में रुकना नहीं, वह तो ड्राइवर के बस में है, ड्राइवर जब चाहे, तब ना रुकेगी, प्रेशर के साथ इसी उठा-पटक में बस स्टेशन निकट आ जाता है, बस से फटाक से उतरने की जल्दी में तू गेट पर जा खड़ा होता है, बस रुकती है, तू रेंगती बस से कूद पड़ता है, भागकर एक दीवार के पास पहुँचता है, मूत्रालय ढूँढने की तेरी ताकत नहीं, वहीं दीवार के पास पहुँच कर खटाक से पेंट की चेन खोलता है और लोक लाज को ताक पर रख प्रेशर को आउट कर देता है, चल भाग, गेट आउट। प्रेशर आउट होने के बाद तुझे जो आनन्द मिलता है वह है ब्रह्मानंद सहोदर, हम सभी यदा-कदा ब्रह्मानंद सहोदर का दर्शन करते रहते हैं। और हाँ सुन, पेंट की चेन का फैशन इसी

सुविधा के तहत हुआ है वरना सोच कि अगर पहले की तरह पेंट में बटन होते तो क्या होता? यह विज्ञान का ही करिश्मा है प्यारे कि मनुष्य का हर तरह ध्यान रखता है। मैं वैज्ञानिक हूँ, इसलिए मैं कहता आँखन की देखी, तू साहित्यकार है, तू कहता कागद की लेखी।"

मैंने वहाँ से चलते-चलते कहा, "यार सक्सेना, यहाँ भी तू मुझसे बाजी मार ले गया।"

●

मैच फिक्सिंग–थीसिस फिक्सिंग

कुछ समय पहले की बात है कि अखबार वाले मूँछों पर ताव देते हुए मैच फिक्सिंग के समाचार ऐसे छाप रहे थे, जैसे संसार के सामने कोई नई चीज़ खोजकर रख दी हो। यह कला तो हमारे यहाँ काफ़ी पुरानी हो चुकी है। आश्चर्य है, उनकी पैनी दृष्टि थीसिस फिक्सिंग पर क्यों नहीं पड़ी? थीसिस फिक्सिंग से पूर्व हमारे यहाँ परीक्षा बाद अंक फिक्सिंग का चलन था, जिसे ई.ए.ई. (एफर्ट्स आफ्टर इग्ज़ामिनेशन) कहा जाता था। हमारे गुरुजन, बी.ए., एम.ए. की परीक्षा समाप्त होते ही ई.ए.ई. टूर पर अटैची उठाकर निकल जाते थे।

एम.ए. के आठ पेपर-सैटरों की (अपवाद रूप से एकाध सनकी को छोड़कर) जैसे एक एसोसिएशन बन जाती थी। एसोसिएशन का हर सदस्य ईमानदारी से, परीक्षा समाप्त होते ही, दूसरे मेम्बर के पास अपने चहेतों के रोल नम्बर भेज देता और फिक्स करा लेता था कि मैं तुम्हारे को पिचासी प्रतिशत दूँगा और तुम भी मेरे को पिचासी ही देना। प्रथम श्रेणी से लेकर टॉपर तक तय हो जाते थे। प्रथम श्रेणी का इच्छुक छात्र समझदार होता था। जानता था कि मेरे अंक बढ़वाने के लिए प्रो. साहब ऐसी गर्मी में बस से तो जाने से रहे, टैक्सी से जाएँगे फिर होटल वोटल का खर्चा भी होता था, तो उसका जुगाड़ करता था।

शिक्षा के क्षेत्र में फिक्सिंग के बड़े सुखद और उत्साहवर्द्धक परिणाम निकले। जो गरीब, स्कूल की मास्टरी लायक भी नहीं थे, वे अध्यक्ष की गाय की सानी कर-करके, बाजार से सब्जी ला-लाकर, विश्वविद्यालय में लेक्चरर बन गए। लेक्चरर से रीडर तक पहुँच गए। हो सकता है अब प्रोफेसर भी बन गए हों, लेकिन ऐतिहासिक को एतिहासिक और अतिशयोक्ति को अतिश्योक्ति ही लिखते रहे।

तत्काल ही डी. लिट्. किए हुए एक मित्र के यहाँ पहुँचा। वे बीड़ी फूँकते हुए बोले, "आजा भाई इबके तो बड़े दिनाँ में आया, अरे कहाँ रह्या इतने दिन?" मैं बोला, "सुना है कि आपको डी. लिट्. मिल गई, तो बधाई देने चला आया।" वे फूलकर कुप्पा हो गए, "भाई, बिद्दा भूसन जी, सब दुआ है भाई लोग्गों की, वरना मैं किस काबिल।" "काबिल क्यों नहीं, आप डी.लिट्. हो गए, इससे बड़ा प्रमाण और क्या?" वे बोले, "अरे तू डी.लिट्. नै कोई हात्थी का पाँ समझ रह्या है, चल तनै भी दिला द्यूँ डी.लिट्., बस बीसेक हजार का खरचा है।" मैंने कहा, "डॉ. साहब, आपने क्या बीस हजार खर्च किए थे डी.लिट्. लेने में?" "ना भाई, सच्ची पुच्छै तो मन्नै ना खरच करी कोड्डी भी।" "फिर कैसे हुआ?" मैंने पूछा। वे बोले, "यार, तू तो अपना पुराणा मित्र है। तेरे तै के छिपाणा। डी.लिट्. करूँगा या तो मनै ठाण रक्खी थी। बस डट गया पन्ने काळे करण। तीन-चार सौ पेज लिखण के बाद मैंने उन्हें टाइप करा लिया और उसकी बहोत खूबसूरत जिल्द बँधवा ली।" बीच में ही टोककर मैंने पूछा, "कितनी कॉपी करवाई थीं?" वे बोले, "छै कोपी करवाई, न्यूँ तो पाँच कोपी ही भतेरी थी, पर मन्नै छह करा ली।" मैंने अधिक तर्क-वितर्क करना उचित नहीं समझा और बात को घुमाकर वहीं ले आया। बोला, "हाँ तो डॉ. साहब! फिर आपने क्या किया?" वह बोले, "मन्नै एक फार्मूला फूरटीफोर अपणाया, छात्रसंघ के अध्यक्ष की सहायता ली और बण गया डी.लिट्.। मेरे मित्र प्रवर, छात्रों की 'गुरुजी प्रणाम', 'प्रणाम गुरुजी'," से आकंठ तृप्त, छात्रसंघ के अध्यक्ष का नियमित रूप से उनका चरण-स्पर्श, गुरुजी का उस पर वरदहस्त—"बेटा, राजनीति करना तेरा काम, तुझे पास कराना मेरा काम"—"कदम-कदम बढ़ाए जा, खुशी के गीत गाए जा", की साक्षात् अभिव्यक्ति, गुरु-शिष्य का ईमानदारी का लेन-देन—एक का दूसरे से कर्ज लेना, दूसरे का मयब्याज कर्ज चुकता करते रहना—व्यापार में लेन-देन की ईमानदारी—साख का बने रहना व्यापार की सफलता।

मैंने कहा, "डॉ. साहब! एक तरफ तो आप मुझे यार कहते हैं, और दूसरी तरफ डी.लिट्. दिलाने के लिए बीस हजार की डिमांड कर रहे हैं।" "अरे यू कोणसा मैं अपणी जेब में धरण वास्ते कैरिया हूँ। देख तिन्नों दूर-दूर हैं—एक सागर, दूसरा जोधपुर, तीसरा बोध गया। फेर न्यूँ बता, तिन्नाँ

के यहाँ खाल्ली हाथ जाऊँगा?" "हाँ सो तो है,...मैं तैयार हूँ।" मैंने कहा। "तो फिर तू एक स्नोप्सिस तैयार कर ले और आ जाणा मेरे पास।"

"डी.लिट्. का स्नोप्सिस? मेरे में नहीं बचा इतना भेजा।" मैं निराश-सा बोला, "अच्छा चल पी-एच.डी. का तो बना सकता है?" "हाँ", "तो बणा ला, टोपिक मैं देत्ता हूँ—एकदम नया, "कोकिल और हिन्दी साहित्य में उसका विकास।" मैं भौंचक, "यह क्या हुआ?" वह बोला, "हुआ क्यूँ नहीं? थीसिस में पाँच-छह चैप्टर चाहिए—कोकिल का अर्थ, संस्कृत साहित्य में कोकिल सम्बन्धी कुछ उदाहरण, कोकिल शब्द की व्युत्पत्ति, वीरगाथा काल में कोकिल, भक्तिकाल में, रीतिकाल में, आधुनिक काल में कोकिल, नई कविता में उपेक्षिता कोकिल, बण गए 6, 7 अध्याय और थीसिस का आकार बढ़ाना चाहे तो उपन्यास साहित्य में कोकिल, कहानी साहित्य में, नाटक साहित्य में कोकिल। बस बण ग्या धाँसू स्नोप्सिस। अच्छा अब तू जा, लगता है यू काम भी मनै ही करणा पड़ैगा। अगले रविवार को आ जाणा।"

अगले रविवार मैं पहुँच गया उनके दौलतखाने पर। बिना कोई बात किए उन्होंने मेरे हाथ में यूनिवर्सिटी का एक लैटर थमा दिया, "डी.लिट्. के शोधप्रबन्ध की रूपरेखा स्वीकृत।" मैं हतप्रभ। वे बोले, "इब तेरा काम है, जा गर्मियाँ की छुट्टियाँ में रोज लायब्रेरी जाया कर, ग्रन्थों को खँगालना शुरू कर दे, जहाँ भी कोकिल शब्द दिखे, उसे पकड़कर झट कैद कर ले। आगे कैसे बढ़ाना है, यह तू जानता ही है, इस कला में ट्रेंड है, टीपटाप कर 3, 4 सौ पेज लिख ले, आकार छोटा लगे तो उद्धरणों को विस्तारपूर्वक उतार लेना, उत्तम किस्म की टाइपिंग और बाइंडिग होनी चाहिए और ले आना मेरे पास।"

लगभग छह मास के घोर परिश्रम के बाद मित्र के फार्मूलानुसार थीसिस तैयार कर ली और पहुँच गया उनके पास। थीसिस की प्रतियों को देख, वे प्रसन्न हुए, "वैरी गुड, भोत बढ़िया, सवा सोळह आन्ने खरी।" उन्होंने पास वाले एक शिष्य को बुलाकर आदेश दिया, "जा, तोमर को बुला ला।" थोड़ी देर में छात्रसंघ अध्यक्ष सोनवीर सिंह तोमर आ पहुँचा। उसने मित्र के चरण-स्पर्श किए और मेरे भी पैर छुए।

"जी गुरुजी, कहिए।"

'सोनवीर बेट्टे, एक जरूरी काम है।" "हुकुम करो, गुरुजी।" "ले

ये पकड़ थीसिस की कोपियाँ और 500 का नोट, इनका मूल्यांकन शुल्क, ये तीन नाम हैं जिनके पास यू थीसिस जाणी है।''

''ठीक है गुरुजी!'' थीसिस की प्रतियाँ और 500 का नोट पकड़ते हुए तोमर ने कहा, ''गुरुजी दो-तीन दिन का टाइम दे दो, हो सकता है रजिस्ट्रार कहीं बाहर गया हो।''

''कोई बात नहीं, आराम से कर ले कोई आफत नहीं आ रही।'' और तोमर चला गया। लगभग एक मास बाद मुझे डी.लिट्. मित्र का फोन-समाचार मिला, ''आज शाम को मिल लो।'' उत्सुकतावश मैं उसी दिन मित्र के यहाँ पहुँच गया। देखते ही उन्होंने मेरी कोली भर ली, ''बधाई, दोस्त बधाई, बस महीन्ने दो महीन्ने में तू डी.लिट्. बण जागा। मेरे पास समाचार आया है।'' मैं गद्गद हो गया और बेसब्र-सा हो उठा, पूछा, ''पर यह सब कैसे हुआ?'' यवनिका उठी और सीन चालू—मित्र का बयान—

''सोनवीर तोमर रजिस्ट्रार के कार्यालय में पहुँचा, उनके पैर छुए, ''गुरुजी प्रणाम।'' रजिस्ट्रार बोले, ''अरे तोमर, आओ, आओ।''

''गुरुजी एक छोटा-सा काम है।''

''बोलो क्या बात है?''

''इस लैटर पै चिड़िया-सी बिठा दो।'' अपने लैटर पैड पर टाइप हुआ पत्र देखकर रजिस्ट्रार महोदय चौंक पड़े, ''कैसे तैयार हुआ ये पत्र?'' ''बस गुरुजी, टाइपिस्ट से कहा कि ले यह टाइप कर दे, उसने कर दिया।''

पत्र पर छपा था, ''डॉ....की डी.लिट्. के शोधप्रबन्ध के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित प्रोफेसर नियुक्त किए जाते हैं।

हस्ताक्षर
कुलसचिव

कुलसचिव बोले, ''यह कैसे हो सकता है?''

''क्यूँ नहीं हो सकता गुरुजी, चिड़िया बिठाने के लिए क्या टेंडर मँगाने पड़ेंगे?'' तोमर ने थोड़ा उच्च स्वर में कहा।

रजिस्ट्रार बोले, ''नहीं भाई, नहीं, आखिर कायदा-कानून भी तो कुछ होता है कि नहीं।''

''कायदा कानून तो थारी कलम में है सर, प्लीज़ बिठा दो ना चिड़िया।'' कुलसचिव ने गर्दन हिलाई, ''नहीं तोमर, यह नहीं हो सकता,

तुम मामले की नजाकत क्यों नहीं समझते?"

"आप भी तो नहीं भाँप रहे मामले की नजाकत, क्यूँ भिरड़ के छत्ते में हाथ डालो? क्यूँ, मनै, कोलिज के लड़कों और अपने आपको तकलीफ देनी चाहते हो?" सोनवीर बोला.....अपने असली रूप में आकर वह बोला, "मैं फेर कहता हूँ, गुरुजी हाथ जोड़कर, बिठा दो ना चिड़िया....नहीं तो ...मैं चला।" तोमर ने रजिस्ट्रार के पैर छुए और लाल मुँह, कमरे का दरवाजा खोला और खटाक्, दरवाजा जोर से बन्द। कुलसचिव महोदय की सिक्स्थ सेंस जाग्रत हुई, घंटी बजाई, चपरासी आया, "यस सर?"

"देखो बाहर सोनवीर सिंह तोमर जा रहा है, उसे बुलाओ।" सोनवीर ने भीतर प्रवेश किया, उनके पैर छूकर मुँह बनाता-सा बोला, "जी, गुरुजी, आज्ञा।" "ले भाई तोमर, बिगड़े बच्चे की बात तो बड़ों को माननी ही पड़ती है, उनकी जिद के सामने किसकी चली है, जा कर दिए हस्ताक्षर।" तोमर ने रजिस्ट्रार के पैर कसकर पकड़ लिए, "गुरुजी मनै माफ कर दो, मैं उल्टा-सुल्टा बोल गया, थारा बालक हूँ, बताओ, जिद किसी और के आग्गे करूँगा? माँ बाप से ही तो बच्चा जिद कर सकै, मनै माफ कर दो।" "अच्छा-अच्छा मेरे पैर छोड़ो", "नहीं गुरुजी, जब तक आप माफ नहीं करेंगे, नहीं छोडूँगा।" "अच्छा भाई, जा माफ किया।"

गद्‌गद होते तोमर ने रजिस्ट्रार के पैर छोड़ दिए, खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला, "गुरुजी शुक्रिया, थैंक्यू, आपने मेरी लाज रख ली, थैंक्यू।"

कुलसचिव के हस्ताक्षर की चिड़िया बैठ गई, तोमर घर आया, मुझे सूचना दी, "और तेरे डी.लिट्. के रास्ते साफ।"

अन्त में मित्रप्रवर बोले, "देख भाई, इब तू 20 हजार रुपए भिजवा देना, मैं चला सागर, पुणे और बोध गया।"

(इसका संक्षिप्त रूप दिनांक 15-11-2000 से नभाटा में प्रकाशित)

●

वोट न देखे जात कुजात

मेरी माँ, जब मैं छोटा सा था, मुझे कहानियाँ सुनाया करती थी। बचपन में सुनी-सुनाई वे कहानियाँ—किसी न किसी रूप में छुटभैये नेताओं, नेताओं, महान् नेताओं, स्वयंभू नेताओं, स्थापित नेताओं, प्रतिष्ठापित नेताओं, सुपर डुपर नेताओं, मतलब सब तरह के नेताओं के भिन्न-भिन्न करतबों में नया रूप धारण कर पुनरुज्जीवित होती दिखाई पड़ती है। इसीलिए वे कहानियाँ मुझे सदाबहार लगती है। साहित्यिक भाषा में कहा जाए तो उन्हें देश काल निरपेक्ष कह सकते हैं—सार्वभौमिक, सार्वकालिक महत्ता जैसे गुणों से अलंकृत कहानियाँ।

पिछले दिनों राहुल गाँधी ने एक करतब कर दिखाया कि वे पूरी एक रात एक दलित के घर में रहे, वहीं खाना खाया। उस बिचारे दलित की यह हिम्मत तो हो नहीं सकती थी कि वह कहता कि आप, 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' हैं उसके लिए भले ही अपनी रोटी का जुगाड़ मुश्किल हो पर इस गौरव को हासिल करना तो कोई भी चाहेगा। लोगबाग तो, अगर मौका मिल जाए तो राहुल गाँधी से हाथ मिलाते हुए अपने फोटो को एंलार्ज करा कर अपने ड्राइंग रूम में टाँग लेंगे और उसे ही कैश करा-कराकर अपनी रोटी का जुगाड़ करते रहेंगे, पर यह काम उस दलित बेचारे के तो बस का नहीं, वह कमाएगा तो क्या, उल्टा कर्ज में दब गया होगा क्योंकि ऐसे मेहमान को क्या उसने अपने वाला भोजन दिया होगा? जाहिर है उसे इसका इंतजाम पैसे देकर करना पड़ा होगा। कमाई तो उससे कोई नेता ही कर सकता है पर मीडिया वालों के लिए इसे करतब सिद्ध करना, उनकी लाचारी क्या, दुकानदारी है। वह उन्होंने जमकर की।

तभी मेरे मस्तिष्क में मेरी माँ की वह कहानी कौंध गई जो उसने मुझे बचपन में सुनाई थी—"एक था राजा। उसके यहाँ एक मेहतरानी

साफ-सफाई का काम करती थी। वह बहुत सुंदर थी (और कहीं नहीं तो कम से कम भगवान् के यहाँ तो लोकतांत्रिक नियमों का पालन होता है, सौंदर्य जरूरी नहीं कि उच्च घरानों की ही बपौती हो, "वह" उसे किसी की झोली में डाल देता है) तो भगवान् ने उस मेहतरानी की झोली सुंदरता से भर दी थी। सुबह-सुबह जब राजदरबार में झाड़ू लगाने आया करती थी तो बड़ी सज-धज कर आती थी। उसकी पायलों की रुनन-झुनन के साथ राजा का मन भी, ताक धिना धिन कर उठता था। मेहतरानी की बड़ी-बड़ी आँखें राजा की आँखों से टकराती तो दोनों के दिलों के बछड़े, जेवड़ा तुड़ाने को बेताब हो उठते पर, जेवड़ा इतना मजबूत कि टूटते न टूटे, आँखों आँखों में ही उछल-कूद मचती रहती। मेहतरानी इतनी चालाक थी कि वह यह देखते ही कि राजा उसकी आँखों पर मर मिटने को तैयार है तो वह अपने होंठों को थोड़ा खोल मुस्कराते हुए अपने दाँतों की, आँखें चौंधियाने वाली बिजली, राजा पर गिरा देती। राजा बेसुध होने लगा। राजा उस पर इतना मोहित हो गया कि दिल को काबू में न रख सका लेकिन लोक-लाज उसके पैरों की बेड़ी बन गयी। दिल पर काबू तो बारह हजार वर्ष की तपस्या का रिकार्डधारी विश्वामित्र भी नहीं कर सका था और उसने पलक झपकते ही मेनका पर, सारी जिंदगी की कमाई तपस्या को कुर्बान कर दिया था। इसीलिए वह राजा, मेहतरानी से गुटरगूँ करने, रात में भेस बदल कर, उसके घर पहुँच जाया करता। राजा, मेहतरानी के प्रेम में ऐसा अंधा हुआ कि उसके तलुवे तक चाटने लगा।

एक दिन हुआ यह कि राजा बिना खाना खाए ही मेहतरानी के घर पहुँच गया। थोड़ी देर तो दोनों का प्रेमालाप चला, लेकिन राजा की भूख उस पर हावी हो गई। राजा बोला, "प्रिये, भूख लगी है, घर में कुछ खाने को है?" मेहतरानी बोली, "हाँ कल सेठ नत्थूमल की लड़की की शादी थी, वहाँ से लाई हुई जूठन रखी है।" राजा बोला, "जूठन? यह कैसे हो सकता है? मैं और जूठन खाऊँ?" मेहतरानी ने मन में सोचा कि मुझे चाटने में तो इसे जूठन नजर नहीं आती, वह बोली, "और तो घर में कुछ है नहीं।" पेट की आग इतनी तेज हो गई कि राजा को बर्दाश्त नहीं हुई और बोला, "ला फिर दे दे, जूठन ही दे दे।"

"वह रखी है टोकरे में, पेट भर खा लो।" राजा ने जूठन से पेट भर लिया और प्रेमालाप करने लगा।

थोड़ी देर बाद राजा को जंभाई आने लगी, नींद ने उस पर हमला कर दिया। राजा बोला, ''प्रिये, बहुत थक गया हूँ, नींद आ रही है, कुछ बिस्तर वगैरह का इंतजाम है?'' मेहतरानी ने कहा, ''बिस्तर कहाँ है, यह टूटी खाट है, इसी पर सो जाओ।'' राजा टूटी खाट पर लेट गया और पड़ते ही खुर्राटे भरने लगा।''

माँ बोली, ''अरे सुन भी रहा है या मैं यूँ ही बोले जा रही हूँ?''

''सुन रहा हूँ माँ, आगे बोल।'' ''समझ में आया कुछ?'' ''हाँ माँ यही कि राजा भेस बदल कर मेहतरानी के घर गया, वहाँ उसने जूठन खाई और टूटी खाट पर सो गया।'' इस पर माँ बोली, ''तू नहीं समझेगा, अभी तू बच्चा है। इस कहानी का निष्कर्ष है—''इश्क न देखे जात कुजात, भूख न देखे झूठा भात, नींद न देखे टूटी खाट।'' उस वक्त तो मैं हूँ, हाँ करता रहा, पर असली अर्थ तो अब समझ में आया जब यह सुना कि राहुल गाँधी ने एक दलित के घर खाना खाया और रात बिताई। मुझे लगा कि मेरी माँ द्वारा 75 वर्ष पूर्व सुनाई गई कहानी जो उसे मेरी नानी अर्थात् मेरी माँ की माँ ने, अपनी नानी से सुनी होगी, यह भी सैकड़ों साल पुरानी कहानी है जो देश कालानुसार, थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ, इसमें निहित सत्य को संरक्षित रखते हुए चली आ रही है, आगे भी चलती रहेगी। तो इसमें आश्चर्य कैसा?

राहुल गाँधी भी किसी के इश्क के चक्कर में वहाँ गए होंगे। इश्क तो इश्क है, चाहे किसी व्यक्ति से हो, या किसी वस्तु से। वह इश्क है, जिसके वशीभूत राहुल ने दलित के यहाँ खाना खाया, उसके यहाँ रात बिताई। राहुल गाँधी और राजा में कोई फर्क है? उसी तरह उसके यहाँ का भोजन राहुल के लिए झूठन से अधिक नहीं और उसका पलंग टूटी खाट से अधिक महत्त्व नहीं रखता। बस अंतर है तो मामूली सा— अब कहानी का निष्कर्ष यह बना—वोट न देखे जात कुजात...बाकी सब पहले की तरह—भूख न देखे झूठा भात और नींद न देखे टूटी खाट।

मैं यह सोच ही रहा था कि खबरी ने धीरे से मेरे कान में कहा कि एक दिन का नाटक दिखाकर राहुल गाँधी अपने बंगले पर गए, डिटॉल के पानी से स्नान किया, एंटी इंफेक्शन इंजेक्शन लिए, अपने पहने हुए कपड़े किसी को दान दे दिए और फिर अपनी डायनिंग टेबुल पर बैठकर भरपेट भोजन किया। मैंने कहा कि झूठ है, तो खबरी ने कहा, ''झूठ नहीं

यह शत् प्रतिशत् सच है, यह तो गाँधी जी की और मेरी माँ की कहानी की नकल है। असल तो गाँधी जी की कथा थी जहाँ वे मनसा वाचा कर्मणा, भंगी कालोनी में रहे, उनका शौचालय तक साफ किया और सारे जीवन नंगे ही रहे। ये एक दिन की नौटंकी दिखाकर उनकी बराबरी करना चाहते हैं, इस तरह दुख दर्द बँटते हैं, दलितों के? ये तो उल्टे उनके दुख दर्द को बढ़ा आए। या तो उस दलित को ठीक-ठाक इंतजाम करने के लिए कुछ पैसे दिए होंगे वरना वह तो कर्ज में और दब गया होगा। इस तरह दलितोद्धार नहीं होता। उनका सच्चा उद्धार करना है तो उन जैसा जीवन कुछ दिन तो जीकर दिखाओ। अस्तु।

यह सब वोट के प्रति उपजे इश्क का चक्कर है, एक बार वोट मिल जाय बस, और फिर हैत्थू! वोट की ताकत कौन नहीं जानता। ऐसे-ऐसे उदाहरण हैं कि एक वोट में, सिर्फ एक वोट में, कैबिनेट मंत्री पद, करोड़ों अरबों रुपये भरे पड़े थे, यकीन न हो वोट-कोश में—किसी अग्रवाल का अर्थ देख लो। इस प्रकार के उदाहरणों की भरमार है—इसलिए मेरी माँ की कहानी सत्य है—वोट न देखे जात कुजात।

●

उत्तर-पुस्तिका मूल्यांकन

कॉलेजों के कुछ प्राध्यापकों का ग्रीष्मावकाश पर्वतीय स्थलों के सैर सपाटे, तीर्थ-यात्रा, सपरिवार श्वसुर-गृह-आतिथ्य, अपने कूलर-कूलित, वातानुकूलित कमरों में बीतता है। अधिकांश का सरस्वती मैया, लक्ष्मी मैया दोनों की, एक साथ आराधना करते हुए कटता है। इस कार्य-संपादन हेतु वे लू के थपेड़े खाते, भीषण गर्मी में कष्ट-सहिष्णु बनकर विभिन्न विश्वविद्यालयों के केन्द्रीय मूल्यांकन केन्द्रों पर, बिन बुलाए मेहमान की हैसियत से पहुँच जाते हैं। बरेली के एक प्राध्यापक, आगरा विश्वविद्यालय पहुँचे। मूल्यांकन कक्ष में पहुँचकर अपने एक विभागीय प्राध्यापक से मिले।

"बंधुवर, नमस्कार, मैं डॉ कौशिक बरेलवी, बरेली से।" "नमस्कार, नमस्कार।" "मैं डॉ शशिशेखर 'इन्दु'।" कहते हुए खड़े हुए और हाथ मिलाया। बोले, "आइए, बैठिए," अपने बराबर वाली खाली कुर्सी की ओर इशारा किया। बरेलवी साहब ने बैठते हुए कहा, "कहिए सब कुशल मंगल!" "जी सब कृपा है आपकी, कहिए, किसलिए आना हुआ?" कहते हुए बोले, "सोचा ग्रीष्मावकाश है, कहीं घूम ही आऊँ, तो चला आया।" "ठीक है घूमिए, गर्मी के मौसम में आगरा घूमने में कोई हानि नहीं, रात्रि में ताज के दीदार कीजिए।" आगरा वाला भी कम काइयाँ नहीं था, वह सब चालाकी समझ रहा था। उसने आगे कहा, "कहाँ ठहरे हैं, मेरे योग्य कोई सेवा?" "ठहरा तो अभी कहीं नहीं, सीधा स्टेशन से चला आ रहा हूँ, आपको ही कष्ट दूँगा।" "हाँ-हाँ, क्यों नहीं, मेरा छोटा-मोटा घर हाजिर है।" "नहीं, नहीं इतना कष्ट नहीं दूँगा बंधुवर, बस उत्तर-पुस्तिका मूल्यांकन हेतु, मुझे भी अपने पास बैठने का अवसर प्रदान कराएँगे तो आपकी कृपा होगी।" "अच्छा-अच्छा, जरूर प्रयास करूँगा, भ्रातृसेवा करना अगर किसी प्राध्यापक को नहीं आएगा तो किसे आएगा। आइए चलिए।

इन्दुजी, उन्हें केंद्राधीक्षक के पास ले गए, बोले, "सर, मेरे घनिष्ठ मित्र डा. बरेलवी। कृपया इन्हें एक परीक्षक-परिचय-पत्र इश्यू कर दीजिए।" उन्होंने कुछ सोचा, बाल पैन के पीछे का सिरा होंठों से लगाया .....तो, नियुक्ति पत्र?...चलिए दे देते हैं आप कह रहे हैं तो।" वे परीक्षक बना दिए गए। और बरेलवी साहब की दृष्टि में उनका कद ऊँचा हो गया। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि मूल्यांकन हेतु 40% (प्रतिशत) कोटा बाहर वाले प्राध्यापकों का रिजर्व होता है। कदाचित् पारदर्शिता की रक्षा करने के लिए, लोकतंत्रीय भारत में इस प्रकार की व्यवस्था की गई है। दूसरे, समय पर परीक्षा-परिणाम घोषित करने की जिम्मेदारी भी निभानी होती है। अतः हर स्थानीय प्राध्यापक को इतर विश्वविद्यालयों से अपने-अपने परिचितों को फोन से सूचित कर, परीक्षक नियुक्त करा लेने में कोई कठिनाई नहीं आती। ऐसा मैं इसलिए स्पष्ट कर रहा हूँ कि कोई इस प्रणाली से अनभिज्ञ हो और बहती गंगा में डुबकी लगाना चाहे तो इससे भिज्ञ होकर, लाभ उठाए जिससे परोपकार के मेरे खाते में कुछ क्रेडिट हो जाए। बस मेरा तो इतना ही लाभ है कि अपनी परोपकार-भावना की पुष्टि से मनस्तोष प्राप्त कर सकूँ।

डा. कौशिक बरेलवी को इन्दुजी ने कापियों का बण्डल दिलवा दिया और एक दूसरी खाली सीट पर बिठा दिया। लीजिए अब करिये कार्य-आरम्भ। अभी थोड़ी देर में चाय नाश्ता आ जाएगा, दोपहर को एक से दो तक लंच, फिर तीन बजे के आसपास चाय नाश्ता और पाँच बजे कार्य समाप्त, बण्डल और अंकतालिका जमा कर देना और फिर जाइए, जहाँ आपका मन करे।

"डा. साहब मेरे ठहरने का प्रबन्ध और करा दीजिए।"

"अच्छा, ऐसा कीजिए कि यूनिवर्सिटी गेस्ट हाउस पहुँच जाइए और वहाँ आपको चन्दर मिलेगा उससे मेरा नाम लेना, कहना कि मेरे ठहरने की व्यवस्था कर दे। डॉ. इंदु ने, अपने अहं के बोझ से उन्हें और दबाया।

संध्या के 5:30 बज चुके थे। डाक्टर बरेलवी ने अटैची उठाई और मूल्यांकन बिल्डिंग से बाहर सड़क पर पहुँचे। यद्यपि सूर्ययान पश्चिमाकाश से क्षितिज की भूमि पर लेंडिंग कर रहा था, तथापि गर्मी अभी भी कोप भवन में लेटी गृहणी की भाँति गृह वातावरण तप्त किए जा रही थी, वायु भी मानो उसके भय से कहीं दुबकी बैठी थी और डा. बरेलवी दाएँ हाथ

से अटैची पकड़े गेस्ट हाउस तक का दो किलोमीटर लम्बा रास्ता—आती हुई खाली रिक्शाओं की उपेक्षा करते हुए, दूसरे हाथ से माथे का पसीना पोंछते हुए दुलकी चाल से—पार करते हुए, गेस्ट हाउस तक पहुँच गए रिसेप्शनिस्ट के खाली काउन्टर पर अपनी अटैची रख दी। "अरे भाई चन्दर कौन है?" उच्च स्वर में बोले। चन्दर प्रकट हुआ "यस सर!" "तुम चन्दर हो?" ''जी हाँ।'' डाक्टर इन्दु ने कहा है कि हमारा ठहरने का प्रबन्ध करो, हम, डाक्टर कौशिक बरेलवी, बरेली से उत्तर-पुस्तिका मूल्यांकन हेतु आए हैं,...बहुत गर्मी है। ''जी... आप सामने वाला कमरा न. चार ले लीजिए, गेट के बिल्कुल पास है आपको सुविधा रहेगी।'' ''ठीक है,...गर्मी बहुत है।'' "सो तो है, पर आप चिंता न करें, कमरे में कूलर है।" "और क्या-क्या है कमरे में?"

"पंखा है, डबल बैड है, आराम कुर्सी है, एक टेबुल है, एक अलमारी है, अटैच बाथरूम है, उसमें गीजर लगा है।" "अरे गीजर का क्या करना है आजकल, वैसे ही गर्मी में मरे जा रहे हैं? हाँ यह बताओ, कोई ए/सी कमरा उपलब्ध है?" "आपके लिए उसका भी प्रबन्ध कर दूँगा, बराबर वाला कमरा न. तीन ए/सी है। लड़के लोग यूनियन प्रेसीडेन्ट के साथ कुछ खा पी रहे हैं, अभी खाली हुआ जाता है, घण्टा दो घण्टा ठहरते हैं, खा पीकर चले जाते हैं।" इतने में ही सफेद कुर्ता पायजामा पहने दाढ़ी वाला एक लड़का, तीन चार लड़कों के साथ, डगमगाता हुआ, ए/सी कमरे से बाहर आया, बोला "चन्दर, रजिस्ट्रार साहब से कहना कि परसों मेरे एक दोस्त आ रहे हैं, दो-तीन दिन ठहरेंगे, उनके लिए ए/सी कमरा बुक रखें।" कहकर बाहर निकल गया। डाक्टर बरेलवी को जिज्ञासा हुई, "ये कौन लोग थे?" बताया था ना "ये लीडर लोग थे, ये दाढ़ी वाला छात्र संघ का अध्यक्ष है, बाकी उसकी मित्र मंडली है। चूँकि डाक्टर बरेलवी भुक्त भोगी थे अतः उन्होंने यह नहीं पूछा कि किस अधिकार से और क्यूँ आए थे। चन्दर ने कहा, "इसी कमरे को बुक कर दूँ? इसके आपको ढाई सौ रुपए प्रतिदिन देने होंगे!" "और नॉन ए/सी का कितना देना होगा?" "बीस रुपए"..."ऐसा है भइया हमें ए/सी में जुकाम हो जाता है, मैं तो घर में भी ए/सी नहीं चलाता, नॉन ए/सी ही रहने दो। "सर यह लीजिए चाबी"। "इस अटैची को हमारे कमरे में पहुँचा दो, बड़ी गर्मी हैं।" तीन किलो भारी भरकम अटैची भला डॉ.

कौशिक से अब किस प्रकार उठाई जाती? चन्दर उसे उठा कर कमरे में ले गया। उसने पंखा चलाया, डाक्टर साहब ने झट से पैंट शर्ट उतारी मय कच्छे बनियान पलंग पर धम्म से लेट गए, सिर के नीचे तकिया लगाया, बायाँ घुटना मोड़ा, दायाँ पैर घुटने पर रखा और बोले, "चन्दर बेटा, एक गिलास ठंडा पानी पिला दो।" चन्दर बाहर वाटर कूलर से एक गिलास पानी ले आया, उसे डाक्टर साहब एक घूँट में ही गटक गए, खाली गिलास चन्दर के हाथ में पकड़ाते हुए बोले, "एक गिलास और...बड़ी गर्मी है।" चन्दर ने जग उठाया और वाटर कूलर से पानी भर लाया, "लीजिए डाक्टर साहब।" "धन्यवाद, जरा कूलर तो खोल दो।"

थोड़ी देर में चन्दर रजिस्टर हाथ में लिए आया और बोला, डॉ. साहब कितने दिन का प्रोग्राम है। "यही कोई बीसेक दिन।" "तो आप 200 रु. दे दीजिए, दस दिन की रसीद काट देता हूँ।" डॉ. साहब ने खद्दर की बनियान के अन्दर बनी जेब से 200 रु. निकाले और चन्दर को दे दिए। हनुमान-भक्त डॉ. कौशिक ने, "सब सुख लह तुम्हारी सरना" का स्मरण आँखें बन्द कर करने लगे। ग्रीष्मावकाश का यह श्रम-स्वेद विफल नहीं जाता। कई कैश क्रॉपें उग आती हैं। आज बीज डालो, महीने बीस दिन में फसल तैयार, चट मंगनी पट ब्याह। इससे मित्र-परिवार-वृद्धि होती हैं, दिन-रात कूलरों में कटती है, हिन्दी-सेवा का लाभ मिलता हैं, परीक्षार्थियों की दुआ मिलती हैं, महान् उपकारक पद-प्राप्ति होती हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरपुस्तिका के भीतर बीस, पचास, यहाँ तक कि सौ रु. का नोट भी नत्थी मिल जाता हैं, यह परीक्षार्थी की ओर से कोई घूस नहीं है, हैसियत के अनुसार गुरु दक्षिणा होती हैं। एक बार तो एक परीक्षार्थी ने उत्तर पुस्तिका के भीतर दो रु. का नोट रखा हुआ था। ऐसी भोली-भाली को मैं उत्तीर्णांक अवश्य देता हूँ, उसमें मुझे उसकी दरिद्रता के साथ उसके गुरुभाव के भी दर्शन होते हैं। यह बालक-बालिका, आज कल के उन होनहार शिष्यों से तो अच्छे हैं जो गुरु जी का कॉलर तक पकड़ लेते हैं, इतना पढ़ लिख जाने के बाद भी यदि हमने, गरीब छात्रों के साथ सहानुभूति रखना न सीखा तो क्या सीखा? हिन्दी वाले होने के नाते कविवर निराला की फक्कड़ता से क्या हम सहानुभूति का इतना भी सबक नहीं ले सकते? ऐसे निपुण छात्र को भी मैं उत्तीर्ण कर देता हूँ जो छात्रा रूप धारण कर उत्तरपुस्तिका में अपनी व्यथा कथा वर्णित करता

है—"गुरु जी, प्रणाम् गरीब कन्या हूँ, मेरा बाप दहेज दे नहीं सकता और मेरी मंगनी बार-बार टूट जाती है। ऐसे में क्या मेरा दिल नहीं टूट जाता होगा? आप प्लीज़ मुझे अच्छे अंक दे दीजिए, जिससे मैं बी.एड. पास कर कहीं टीचरी कर लूँगी, फिर लड़के वाले मेरे बाप की खुशामदें करेंगे। मैं भी एक बार, घर से दूल्हे को बारात सहित वापस लौटा देने का सुख ग्रहण कर सकूँगी, अखबारों में फोटो सहित अपना नाम छपने का सुख और हीरोइन-पद प्राप्त करने का सुख, कुछ कम तो नहीं होता? प्लीज़-प्लीज़ मुझे अच्छे अंक दे दीजिएगा। आपकी बेटी जैसी हूँ। "आपकी बिटिया"। ऐसे छात्र को मैं अच्छे अंक जरूर देता हूँ, जिसमें गुरु तक को चकमा देने की हिम्मत है। उसमें मुझे, भविष्य में कुछ कर गुजरने वाले होनहार के दर्शन होते हैं।

आगरा जाने पर यह तो सम्भव नहीं कि ताज का दीदार न किया जाए, इसके लिए लोग बाग अण्टी से अच्छी खासी रकम खर्च करते हैं। और मैं आम के आम गुठलियों के दाम, दोहरा लाभ उठाता हूँ। किराया भत्ता लेता हूँ फर्स्ट क्लास का, खर्च करता हूँ सेकण्ड क्लास का। घर से स्टेशन तक की दो किलोमीटर की दूरी को 15 किलोमीटर का दिखाकर यात्रा भत्ते में बढ़ोत्तरी करता हूँ, कोई फीता लिए थोड़ी ही न खड़ा है, मेरे घर से स्टेशन तक की लम्बाई नापने के लिए...और ताज दर्शन कर लेता हूँ। इसके अतिरिक्त और लाभ भी हैं—रात्रि भोजन का प्रबन्ध परीक्षक को अपनी जेब से करना होता है। इसके लिए मुझे काफी भत्ता मिलता है। चूँकि जेब में आया पैसा अपना ही हो जाता है, अतः भत्ते के पैसे को भोजन पर खर्च करना मेरे लिए टेढ़ी खीर बन जाता है। कोई परीक्षक साथी कहता, "चलिए डॉ साहब, खाना खा आते हैं।" तो मेरे जैसे, 'एकाहारी सदाव्रती', महानुभाव कह देते हैं—"बन्धु मैं तो दिन में एक बार ही भोजन करता हूँ। संध्या कुछ फलाहार कर लेता हूँ और बाहर निकल कर 20 रु. में दूध केले से अपना पेट भर लेता हूँ। धाबे में जहाँ 50-60 रुपए खर्च होते, वहाँ बीस रुपए में ही काम चल गया।

इसके अतिरिक्त कई अन्य छोटे-मोटे लाभ और होते हैं—मसलन बिजली की आँख मिचौली और बिल बढ़ने के भय के कारण, हम भले ही अपने घर में दो-एक घण्टे बमुश्किल कूलर चला पाते हों पर यहाँ तो कूलर ही कूलर, हर समय कूलर। यहाँ न घर की चिक्-चिक्, न पत्नी

की बक्-बक्, छुट्टियाँ बड़े आनन्द से बीतती हैं—हींग लगी न फिटकरी और रंग बहुत, बहुत चोखा। ग्रीष्म ऋतु का पीक समय, मौज में कटता है।

प्रातः नहा-धोकर, तरोताजा हो जाते हैं और जल्दी ही काम निपटाने के चक्करों में, पहले ही मूल्यांकन—केन्द्र पहुँच जाते हैं। कक्ष में प्रवेश करते ही कॉपियों का बंडल रिसीव करते हैं, कॉपियों का दो-ढाई किलो का बंडल उठाए नहीं उठता, अतः चपरासी को तर्जनी से इशारा करते हुए कहते हैं, "यह बंडल हमारी सीट पर पहुँचाओ।" कॉपी जाँचनी शुरू करते हैं, जेब से लाल पेन निकाल, कॉपी के पन्ने उलटते हैं, इधर-उधर देखते रहते हैं कि कॉपी जाँचने की रफ्तार किसकी अधिक है, सबसे तेज रफ्तार बनाने के चक्कर में कॉपियाँ पर कॉपियाँ, मूल्यांकित होकर बंडल से खिसकती रहती हैं, जरूरी नहीं कि कॉपी के भीतर के अंक, बाहर चढ़े कालम के अंकों से मैच करें, बाहरी पृष्ठ पर टोटलिंग करते हैं, बंडल की पाँच कॉपियों की अंकगणना जरा सावधानी से करनी होती है, क्योंकि वे हेड एग्जामिनर को दिखानी होती हैं जो टोटल को देखकर उस पर अपने हस्ताक्षर की चिड़िया सी बैठाता है। कुछेक को छोड़कर शेष सब पास किए जाते हैं क्योंकि परीक्षक को पता होता है कि विद्यार्थी के ज्ञान का घनत्व क्या है। दिए हुए अंकों को, कोई माई का लाल चैलेंज नहीं कर सकता। शुरू-शुरू में मेरी रफ्तार बैलगाड़ी की सी धीमी थी, एक वरिष्ठ परीक्षक मेरे पास आए, बोले, "बड़ी धीमी रफ्तार है, गाड़ी टॉप गियर में डालो और एक्सीलेटर दबाओ, क्या पढ़कर अंक दे रहे हो? हिन्दी-सेवक होकर क्यूँ कुठाराघात कर रहे हो हिन्दी पर? एक तो बिचारी को वैसे ही कोई नहीं पूछता, ऊपर से तुम फेल पर फेल किए जा रहे हो, लड़के इस तरह फेल होंगे तो कौन लेगा हिन्दी विषय? रही-सही हालत और बिगड़ जाएगी, हिन्दी के सेवक हो या कसाई? बात पते की थी, गाड़ी टॉप गियर में डाल दी गई औरों की भाँति एक्सीलेटर दबाया और आठ घण्टे का काम दो घण्टे में निपटाने लगा।

हाँ एक बार थोड़ी सी परेशानी जरूर उठानी पड़ गई थी। मेरे बराबर वाली सीट पर इतिहास विषय के परीक्षक बैठे थे। मूल्यांकित कॉपियों का अपना बंडल जमा कर मैं उनसे बातें कर रहा था, वे अपनी मूल्यांकित कॉपियों की गिनती कर रहे थे, 49 पुस्तिकाएँ, दोबारा गिनी, तो भी 49,

मैंने भी एक बार गिनती कर उनकी सहायता करी तो भी 49 ही निकली, मतलब एक कॉपी कम। इतने में ही चपरासी ने, मेरे द्वारा मूल्यांकित कॉपियों का बंडल मेरी टेबुल पर रखते हुए कहा, डॉ साहब जरा इनका टोटल एक बार और करके देख लीजिए, मैंने गिनती करी तो एक अधिक, दोबारा गिनी तो भी 51 ही निकली, एक अधिक, दोनों परीक्षकों की समस्या सुलझ गई, अपने बंडल में से इतिहास की कॉपी ढूंढ निकाली इतिहास वाले ने पहले और अन्त के पृष्ठों पर मेरे हस्ताक्षर काटे और अपने कर दिए। दोनों बंडल जमा हो गए। थोड़ी सी परेशानी जरूर आई पर समस्या का समाधान हो गया। तेज रफ्तार गाड़ी में छोटे-मोटे झटके तो लगते ही रहते हैं।

मेरा काम था शिक्षण-व्यापार की लाभ-हानि का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना, हानि-लाभ की बैलेंस शीट तैयार करना अब आपका काम।

जय हिन्दी, जय हिन्द, जय भारत।

●

वित्तमंत्री का बजट

"हैलो, कौण बोल्लै"?

"हैलो, सेक्रेटरी टु द फिनैंस मिनिस्टर, स्पीकिंग।"

"अरे, हिन्दी बोलणी ना आवे के?"

"कहिए, कौन साहब?"

"मैं चौ. खजान सिंह, एम.पी.साब का पी.ए.। वे वित्तमन्त्री तै बात करणा चाहवैं।"

"कौन से एम.पी.?"

"अरे चौ. अजैब सिंह एम.पी.।"

"चौधरी साहब, वित्तमन्त्री जी मीटिंग में हैं, थोड़ी देर बाद बात कर लीजिएगा।

"ठीक है।" फोन रखकर खजान सिंह ने एम.पी. साहब से कहा, "एम.पी. साहब, वित्त मन्त्री के पी.ए. नै कह्या है के थोड़ी देर में बात कर लेंग्गे। मन्त्री साब नै यू जरूर कै देणा कि म्हारे गाम के नेताओं तै बात जरूर कर लिया करैं, वे बार-बार तानूने मारैं कि म्हारी तो कोई पूछ ही नईं हैं, मन्त्री साब तो म्हारे नै गँवार समझ, बात ई नईं करते।"

"हाँ, हाँ, यू बात मैं जरूर करूँगा।"

टनन् टनन्, फोन की घंटी बज उठी, फिनैंस सिक्रेट्री बोला, "हलो, चौ. साहब, मन्त्री जी लाइन पर हैं, बात कर लीजिए।" खजान सिंह ने फोन का चोगा एम.पी. साहब को पकड़ा दिया, "मन्त्री जी, "हाँ जी", "हाँ जी वित्तमन्त्री साहब नमस्ते, एम.पी. अजैब सिंह बोल र्‌या हूँ।"

"नमस्ते चौ. साहब, क्या आदेश है?"

"कोई खास बात नई, बस न्यू कहणा था कि म्हारे गाम का एक परतिनिधि मंडळ आपके पास कल तड़के 10 बजे आवैगा, उना तै चोक्खी

ढाळ (तरह) बात कर लेना, उन्हीं लोग्गाँ के हाथ में म्हारी नस है।" "ठीक है चौ. साहब, हम तो जनता के सेवक हैं, बेफिक्र रहो, मैं ध्यान रखूँगा।" अगले दिन प्रातः वित्तमन्त्री के फोन की घंटी बजी, टनन्-टनन्-टनन्। सेक्रेटरी ने चोगा उठाया,... और मन्त्री जी को दे दिया।

"हैलो", दूसरी ओर से आवाज आई, "हैलो जसवंत सिंह जी?"

"नहीं, मैं वित्तमन्त्री यशवंत सिन्हा।"

"हाँ, हाँ जसवंत सिंह।"

"नहीं, यशवंत सिन्हा।"

"मन्त्री जी म्हारे गाम मैं तो यसवंत कोई नहीं कहता, सब जसवंत ई कहकै पुकारै।"

मन्त्री जी थोड़ा मुस्कराए, "अच्छा चलिए कोई बात नहीं, कहिए क्या बात है, चौ. अजायब सिंह ने बताया था मुझे कि आप मिलना चाहते हैं।"

"मन्त्री जी, बात तो माड़ी (मामूली) सी है, टेलीफून पे ई सुण लो, और तो कोई खास बात है नईं।"

"कहिए"

"कहणा के है, बस बजट में किसाणा का ध्यान कर लियो, जो गरीब लोग तम लोग्गाँ नै पार्लमैंट तक पुँचावै, उनका कुछ ना कुछ हक तो बणता ई अ थारे उप्पर।"

"हाँ, हाँ क्यों नहीं, चौ. साहब, हम तो जनता के सेवक हैं।"

"ठीक है, हम जाणैं के तम गरिब्बाँ की सेवा करो, अपनी खुद की सेवा नईं करते, कर लिया करो अपणी बी, हम कौण सा दैक्खण आरे अँ? गरिब्बाँ का बी ध्यान रखियो, बस यु ई कैणा था।"

"बेफिक्र रहिए, चौ. साहब, चिन्ता ना करिए। अच्छा नमस्ते।"

"नमस्ते जी, जयरामजी की।" कहकर प्रतिनिधि मंडल के मुखिया चौ. साहब ने फोन रख दिया और सब प्रसन्न होकर घर लौट गए।

बजट पेश करने का समय सिर पर चढ़ा आ रहा था। वित्त मन्त्री परेशान थे। इस बार भी जनता को बजट यदि ठीक नहीं जँचा तो बड़ी छीछालेदर होगी। इसी बात को लेकर वित्त मंत्री विचार मग्न थे। इतने में ही सेक्रेटरी आए। अपने मन्त्री को उदास देखकर बोले, 'सर, क्या बात है, बड़े परेशान दिख रहे हैं। वित्त मन्त्री बोले, भाई मेरे, बजट पेश करने का समय भागा चला आ रहा है और मैं अभी तक तय नहीं कर पाया कि किस प्रकार उबरूँगा, इस बार जनता की कटु आलोचना से।' सेक्रेटरी

बोला, 'सर! शहर के बाहर आश्रम में एक महात्मा रहते हैं उनके पास हरेक समस्या का समाधान है, मिल कर देख लीजिए। मेरा विश्वास है कि वे आपकी समस्या का समाधान अवश्य कर देंगे।

वित्तमन्त्री महात्मा से मिलने उनके आश्रम पहुँच गए। दंडवत प्रणाम किया। बाबा बोले, 'बैठ जा बच्चा, क्या समस्या है तेरी? वित्त मन्त्री ने कहा, 'बाबा! बजट पेश करने का समय आ गया है और अभी तक मैं यह तय नहीं कर पाया कि ऐसा बजट किस तरह बनाऊँ कि जनता का खून भी चूस लूँ और उसकी वाहवाही भी लूट सकूं। बाबा बोले, 'बच्चा, समस्या का समाधान तो है, पर वह तुझे मेरी इस कथा से खोजना पड़ेगा, जो मैं तुझे सुनाऊँगा। कथा में छिपे रहस्य को तूने यदि खोज लिया तो तेरा कल्याण हो जाएगा।' वित्तमन्त्री बोले, 'सुनाइए बाबा, मैं कोशिश करूंगा उस रहस्य को खोजने की।' बाबा ने कथा शुरू की।

'गाँव का एक गरीब युवक शहर में नौकरी करने चला आया। उसके साथ उसकी पत्नी, दो बच्चे, एक कुत्ता और एक गाय थी। शहर में एक छोटा सा कमरा किराए पर लेकर वह उसमें रहने लगा। कमरे के बाहर एक बरामदा था, उसके कोने में उसकी पत्नी भोजन बनाने लगी। एक ओर चादर तानकर बाथरूम भी बना लिया। बरामदे के दूसरे कोने में वह कुत्ते और गाय को बाँध दिया करता। थोड़ी सी उसकी तनख्वाह थी, किराए पर इससे बड़ा मकान वह नहीं ले सकता था, इस कारण बहुत दुःखी था। एक दिन वह मेरे पास आया, अपनी व्यथा सुनाई और समाधान पूछा। मैंने कहा—समस्या विकट है, आठ हफ्ते लगेंगे, "बशर्ते तू वैसा ही करे जैसा मैं कहूँ।" वह बोला, "मैं वचन देता हूँ कि जैसा आप कहेंगे वैसा ही करूँगा।"

तो जा, अपनी पत्नी से कह कि "आज से खाना कमरे में बनाना शुरू कर दे। फिर अगले हफ्ते आना मेरे पास।" वह चला गया। फिर हफ्ते बाद आया। मैंने देखा, उसका चेहरा कुछ मुरझाया हुआ है। आते ही बोला, बाबा, मैं तो पहले से ज्यादा दुखी हो गया हूँ। मैं बोला, 'हिम्मत मत हार, जैसा कहता हूँ, करता जा।' वह बोला, "अच्छा आगे बोलिए।" "जा अब कुत्ते को भी अन्दर कमरे में ही बाँधना शुरू कर दे और फिर अगले हफ्ते आना मेरे पास।'

अगले हफ्ते जब वह आया तो उसका चेहरा और अधिक मुरझा गया था। मैंने पूछा, "कहो क्या हाल है?" वह बोला, "हाल तो चेहरे पर लिखा है। अब आगे क्या आदेश है?" मैंने कहा, "जा, अब गाय को भी

कमरे के अन्दर बाँधना शुरू कर दे और अगले हफ्ते फिर आना।" वह चला गया और अगले हफ्ते जब आया तो ऐसा लगता था कि अभी रो पड़ेगा। बोला, "बाबा, यह कैसा समाधान है, मैं जिन्दा नरक भोग रहा हूँ। बाबा मैं तो बहुत ज्यादा परेशान हो गया हूँ।" बाबा ने उसे टोकते हुए कहा, "देख बेटा, समाधान चाहता है तो मेरे कहे अनुसार कर।" उसने कहा, "अच्छा आगे बोलिए।" बाबा ने कहा जा, "अब पत्नी से कहना, स्नान भी अन्दर ही किया करे, और अगले हफ्ते फिर आना मेरे पास।" वह चला गया और अगले हफ्ते फिर आया मुँह लटकाता हुआ, "बाबा अब सहन नहीं होता, बहुत दुखी हो गया हूँ।" "थोड़ा धीरज रख बेटा, इतनी बड़ी समस्या के समाधान में समय तो लगता ही है।" "गाय और कुत्ते के मलमूत्र की बदबू से मेरा दिमाग फटा जा रहा है। इससे तो मौत अच्छी।" मैंने उसे ढांढस बँधाते हुए कहा, 'चिन्ता मत कर, अब तेरे दुखों का अन्त होना शुरू हो जाएगा। जा, अब कुत्ते को बाहर बरामदे में बाँधना शुरू कर दे और अगले हफ्ते आना मेरे पास।' वह चला गया, और अगले हफ्ते जब आया तो मुझे उसके चेहरे पर थोड़ी कांति झिलमिलाती नजर आई। मैंने पूछा, "कहो क्या हाल है?" वह बोला, पहले से कुछ ठीक है, लेकिन दुखी अभी भी बहुत हूँ।' मैं बोला, 'जा, अब गाय को भी बाहर बाँधना शुरू कर दे और फिर अगले हफ्ते आना मेरे पास।'

एक हफ्ते बाद जब वह फिर आया तो देखा कि उसके चेहरे पर एक रौनक थी, चाल में भी तेजी आ गई थी। मैंने पूछा, 'कहो, क्या हाल है?' वह मुस्करा कर बोला, 'अब तो काफी ठीक है बाबा, लगता है दुःख के बादल काफी छंट गए हैं।' मैं बोला, 'अब पत्नी से बोलो कि वह नहाना, धोना और खाना बनाना, बाहर बरामदे में शुरू कर दे और अगले हफ्ते फिर आना मेरे पास।' वह चला गया और अगले हफ्ते जब आया तो चेहरा पूरी तरह खिला हुआ था, चाल में गजब की फुर्ती थी। वह मुस्करा रहा था। आते ही मेरे चरणों में लेट गया। बोला, "धन्य हैं बाबा अब मेरे सब संकट दूर हो गए, अब मैं बहुत सुखी हूँ।" बस यही है वह कथा वित्तमन्त्री जी! जिसमें आपको अपनी सफलता का रहस्य खोजना है।

वित्तमन्त्री के लिए रहस्य खोजना कठिन नहीं था।

(इसका संपादित रूप दिनांक 03.02.00 को नभाटा में प्रकाशित हुआ)

•

महँगाई

जिस प्रकार दीपावली पर देश का वातावरण दीपावली भय हो जाता है, होली पर होलीमय हो जाता है, उसी तरह आज पूरे देश का वातावरण महँगाईमय हो उठा है, फर्क बस इतना-सा है कि त्यौहारों पर वह उत्साहमय हो उठता है, लेकिन महँगाई में एकदम उलटा—जैसे एक झंझावात आ गया हो—कहीं रैलियाँ हो रही हैं, कहीं कच्छा पहने नंगे बदन जनता का जुलूस निकल रहा है, कहीं खाली कनस्तर, थालियाँ खड़काई जा रही हैं, कहीं छाती पीटती औरतें, नंगे बच्चों को बगल में दबाए 'सरकार हाय, हाय' कर रही हैं और कहीं नेताओं, मंत्रियों के पुतलों की जूतों से आरती उतारकर उन्हें माचिस दिखाई जा रही है, उन्हें लाठियों से पीटा जा रहा है, आदि आदि। मुझे ऐसा लगा जैसे भूचाल आ गया हो—लोग-बाग इधर-उधर हिलने-डुलने लगते हैं, रसोई के बर्तन खड़क उठते हैं, पलंग, टी.वी., सोफासैट, डायनिंग टेबिल आदि गड़, गड़, गड़, गड़कर उठते हैं, बदहवास होकर कोई इधर भाग उठता है, कोई दीवार के किनारे लेट जाता है, माँ अपने शिशु को छाती से चिपका लेती है। किसी बड़े स्टेशन पर गाड़ी रुकते ही जो इधर-उधर भाग दौड़ मच जाती है, वैसा ही कुछ दृश्य उत्पन्न हो गया है संपूर्ण देश में।

बहुत सोचता हूँ, मायन्यूटली देखता हूँ कि कहीं महँगाई नजर आ जाए, पर मुझे, दिखाई नहीं पड़ती। फिर सोचता हूँ कि कहीं महँगाई—''भेड़िया आ गया'', ''भेड़िया आ गया''—जैसी तो नहीं हो गई? तो उत्तर मिलता है कि हो सकता है भेड़िया आ ही गया हो और तुझे नहीं दिखाई पड़ रहा हो। अथवा कहीं यह पंडितजी के कंधे पर लदे बकरी के बच्चे को कुत्ता कहकर उसे हड़प लेने की ठगों की चाल न हो—अतः इसकी खोज करनी चाहिए कि आखिर महँगाई है कहाँ, देखूँ तो सही।

अपने पड़ौसी गुप्ताजी को जब अपने विचारों से अवगत कराया तो वे बोले, "आप अच्छा-खासा कमा लेते हैं तो आपको महँगाई क्यूँ नजर आएगी?"

"गुप्ता जी, मैं अमीर होता तो ए/सी गाड़ियों में घूमता, घर में कई-कई नौकर होते, मेरा फ्रिज फलों, सब्जियों, आइस्क्रीमों आदि से इतना भरा रहता कि पत्नी कहती, "देखो जी, एक बड़ा-सा फ्रिज और मँगवा लो, इस एक से काम नहीं चलता। तो मैं उसकी बात हँसी में टालते हुए यह न कहता, कि "जब अकेले मुझसे तुम्हारा काम निकल जाता है तो दूसरे की माँग क्यों?" और वह भुनभुनाती न चली जाती।" सुनकर गुप्ताजी मुस्काए और बोले, "पर्स में तो 100, 100, 500, 500 के नोट भरे पड़े हैं और आप कहते हैं अमीर नहीं।"

"किसी सब्जी फल वाले की रेहड़ी पर जाकर 10, 15 रुपए की सब्जी फल ले लीजिए और उसे एक हजार का नोट दीजिए और फिर देखिए गुप्ता जी कि वह किस प्रकार जेब में हाथ डालकर, 100, 100 रुपए के नोटों की गड्डियाँ निकालकर आपको बाकी के छुट्टे देकर अपनी जेब का भार हल्का करता है। जैसे मैं देखता हूँ, आप भी रोजाना कुछ-कुछ ऐसा ही सोचते होंगे, "अरे भिखारी से लगने वाले आदमी की जेब में इतने सारे नोट!" कहकर मैंने गुप्ताजी की ओर देखा और मानों उन्हें अचानक कुछ याद आ गया, वे चलते बने।

मेरे भीतर से एक आवाज-सी आई, "घर से बाहर निकलकर देख, खोजेगा तो मिलेगी, जिन खोजा तिन पाइयाँ।" मैंने श्रीमती जी से कहा, "कल शनिवार है, मेरी छुट्टी है, कल सुबह तैयार हो जाना, बाजार चलेंगे।" उनके चेहरे को देखकर मुझे लगा जैसे वे कह रही हों, "नेकी और पूछ-पूछ।" और अगले दिन वे प्रातः ही नाश्ता पानी निपटाकर नौ बजे ही तैयार होकर बैठ गई। मैं, उन्हें लेकर महँगाई की खोज में निकल पड़ा। हम एक मॉल में पहुँचे।

मॉल में भीतर घुसते ही, बाहर की तुलना में, कुछ अच्छा-सा लगा। गेट के भीतर दाहिनी ओर रेडीमेड गारमेंट्स का एक शोरूम है, हम उसमें घुस गए।

"जीन्स दिखाइए", बाएँ हाथ में कीमती घड़ी, दाएँ में सोने का कड़ा, गले में सोने की चेन पहने एक स्मार्ट से युवक ने सेल्स गर्ल से कहा।

"आपके लिए सर?"

उसने हाँ में गर्दन दो एक बार ऊपर नीचे हिलाई और सेल्सगर्ल ने तीन-चार जीन्स लाकर काउंटर पर रख दी। मुझे कोहनी मारती हुई वे फुसफुसाई, "क्या देख रहे हैं?"

"सेल्स गर्ल...क्या भाग्य लेकर उतरी हैं—शक्ल-सूरत, ओढ़ने-पहनने, बोलने के ढंग से लगता है कि किसी उच्च घराने की मालकिन या कन्या होनी चाहिए थी, फिल्मी हिरोइन भी हो सकती थी और फर्राटेदार अंग्रेजी बोलती हुई यहाँ पल्लेदारी कर रही हैं, हर ऐरे-गैरे को सर कह रही है और फ्री में मुस्कान बाँट रही है।"

"अरे उसके लंबे-लंबे नाखून तो देखो—भिंडी-सी पैनी, पतली-पतली अँगुलियों पर लाल-लाल करौंदे जैसी लगी नेलपॉलिश को देखकर, मुझे तो अपनी अँगुलियाँ ढक लेने को मन किया।"

"अरी नेलपॉलिश ही क्या, हर एंगिल से एक मॉडल लगती है।"

"हाउ मच?" एक जीन्स की ओर इशारा करते हुए ग्राहक ने पूछा।

"सर, आर.एम.पी. 2700/- है, 30% डिस्काउंट, कुल मिलाकर" कहते हुए उसने कैलकुलेटर उठाया और धीमे-धीमे बटन दबाती बोली, "टु सेविन ज़ीरो ज़ीरो—माइनस 30% इज़ इक्वल टू, वन ऐट नाइन ज़ीरो।"—फिर कैलकुलेटर को उनकी ओर मोड़कर दिखाती हुई बोली, "सर 2700/- में से 810/- डिस्काउंट काटकर—वन ऐट नाइन ज़ीरो हुए, आपको देखते ही मैं समझ गई थी सर कि आपको कोई अच्छी चीज चाहिए, हम तो ग्राहक को देखते ही उसकी औकात पहचान जाते हैं सर। यूँ तो हमारे शोरूम में सस्ती से सस्ती जीन्स भी हैं, कहिए तो और दिखाऊँ।" कहकर उसने दो तीन डिब्बे और निकाले। लड़के ने धूर्ततासिंचित एक सार्थक मुस्कान उसकी आँखों पर छिड़की, "खोलकर दिखा सकती है?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं, ग्राहक की संतुष्टि तो हमारा काम है सर, आप लें ना लें, यह आपकी मर्जी, बहरहाल खोलकर दिखाने में हमें क्या फर्क पड़ता है।" लड़का धन्य हुआ उत्तर पाकर। सेल्सगर्ल ने डिब्बे से जीन्स निकाली और खोलकर काउंटर पर फैला दी। जीन्स देखकर लड़के ने नाक भौं सिकोड़ी, "ऊँ हूँ, बहुत चीप लगती है।"

"सर, मैं तो पहले ही कह रही थी कि ये सस्ती हैं, इन्हीं में से कुछ

और छाँट लीजिए ना।" मुस्कराते हुए उसने कहा।

"अब तुम कह ही रही हो तो, इसी क्वालिटी की, दूसरे किसी रंग की जीन्स दिखा दीजिए।" उसने अपनी पसंद की हुई जीन्स पर अँगुली धरते हुए कहा।

"यह लीजिए सर, खोलकर दिखाऊँ?"

"जैसी आपकी मर्जी...नहीं, नहीं, रहने दीजिए, इसे भी पैक कर दीजिए। घर में ऐसी कई जीन्स आलरेडी पड़ी हुई हैं, पर चलो एक वैरायटी और हो जाएगी।"

लड़की ने उसका भी बिल काट दिया, डिस्काउंट काटकर 1890/- का। दोनों जीन्स को उसने एक सुंदर से लिफाफे में रखा और थैला उसकी ओर बढ़ाया—"लड़के ने थैला पकड़ा, सैल्स गर्ल की अँगुलियों से लड़के की अंगुलियों का स्पर्श हुआ, पता नहीं लड़की की अँगुलियाँ ग्राहक की अँगुलियों से लड़ी या लड़के की अँगुलियों ने एक शरारत-सी की अथवा यह दोनों की अँगुलियों की मिली भगत थी?

"सर पेमैंट वहाँ कैशियर को कर दीजिए।" उसने इशारे से कहा और फिर बोली, "थैंक्यू सर।"

"सी यू" कहकर वह भुगतान करने कैशियर के काउंटर पर गया, क्रेडिट कार्ड से भुगतान किया और सेल्सगर्ल की मोहक मुस्कान से ऊपर से नीचे तक भीगता हुआ ऐसी गर्वीली चाल से बाहर निकला मानो अपनी अमीरी की बर्छी, सेल्सगर्ल के सीने में भीतर तक घुसा आया हो।

"देखा तुमने?" मैंने श्रीमती जी से कहा।

"हाँ।"

"क्या देखा?"

"यही कि यह अच्छे पैसेवाला था, रईस बाप की बिगड़ी हुई औलाद।"

"क्या खाक देखा? यही देखने आई थी कि कौन कितना अमीर है?"

"फिर?"

"फिर यह कि ऐसी ही जीन्स चाँदनी चौक में 7, 8 सौ की मिल जाती, पर इसने 1890/- दिए।"

"मतलब?"

"मतलब यह कि महँगाई नहीं है, वह होती तो 8 सौ की चीज के 1890/- देता?"

"हूँ।"

वहाँ से निकलकर हम जूतों के एक शोरूम में घुसे। भीतर प्रवेश करते ही मुझे लगा जैसे किसी महकती हुई फुलवारी में घुस गया हूँ—जहाँ तरह-तरह के छोटे-बड़े, रंग-बिरंगे फूल अपनी महक से दर्शकों को मुग्ध कर रहे हों। सुगंधित शोरूम के चारों ओर की दीवारों पर अनेक रैकें सफेद रंग से पुती हुई थीं जिन पर तरह-तरह के जूते, सैंडिल, चप्पलें सजी हुई थीं। एक रैक पर 30% डिस्काउंट, दूसरी पर 40%, एकाध पर 60% डिस्काउंट के लेबिल चिपके हुए थे। काफी लोग चहलकदमी करते हुए अपनी-अपनी पसंद के जूते पसंद कर रहे थे। कोई मोलभाव नहीं, कोई चिक्-चिक् नहीं। ग्राहक ने अपनी पसंद के जूते की ओर इशारा किया, सेल्समैन ने जूता निकाला, बिल बनाया और ग्राहक को थमा दिया।

घूमते घूमते मैंने श्रीमती जी से कहा, "ग्राहक यहाँ कोई मोलभाव नहीं करता।"

"क्यो?"

"अरे पोजीशन की बात है मोलभाव करेगा तो दुकानदार सोचेगा, क्या टुचियल आदमी है।"

असल बात है डिस्काउंट का लालच जो ग्राहक की बुद्धि पर पर्दा डाल देता है, वह यह भी सोचने लायक नहीं रहता कि दुकानदार को क्या बावले कुत्ते ने काटा है जो घाटा उठाकर अपना माल सस्ते में बेचेगा? इतने बड़े एस्टेब्लिशमेंट का खर्चा वह ग्राहक से ही तो वसूलेगा।" मैंने तभी पत्नी को बताया, "40% डिस्काउंट काटने के माद इस ग्राहक ने यह जूता 1600/- में खरीदा है, जबकि किसी छोटी दुकान से यह 7, 8 सौ में मिल जाता।" मैंने 1600/- का भुगतान करने वाले सज्जन की ओर इशारा किया।

"अच्छा?" वे अचंभे से में बोली।

"जब ये कॉलोनी में जाएँगे तो स्टैंडर्ड शोरूम के कैरी बैग को हवा में इस तरह आगे-पीछे झुलाते जाएँगे कि आस-पड़ौस के लोग इनका लोहा मान लें। कौन कहाँ से खरीददारी करता है इसका बड़ा भारी इफैक्ट पड़ता है, जिसका जीता जागता उदाहरण मेरे अपने परिवार की एक घटना है।"

"वह क्या?" उन्होंने तुरंत पूछा।

"अरे तुम्हें याद नहीं, भाई साहब के डॉक्टर पोते के रिश्ते की बात?"

"ना, मुझे याद नहीं।"

"उसका अच्छा-खासा बड़े घराने से आया रिश्ता सिर्फ इसी बात से कैंसिल हो गया था कि लड़के वाले अच्छी खासी कोठी में रहते हैं, और शॉपिंग करते हैं शाहदरा या चाँदनी चौक से। सी.पी. या साउथऐक्स से खरीददारी करने वालों की बात ही कुछ और है। समझी कुछ?"

"हाँ, सो तो है।" वे बोली।

अचानक मैंने उनसे कहा, "अरे तुम न जाने कब से गाड़ी के लिए जान खा रही हो, चलो आज गाड़ी का किस्सा निपटा दें।"

"गलत कहती हूँ? तुम्हारे असिस्टैंट गाड़ी में चलें और मैं उसकी बीवी के सामने छोटी पड़ जाऊँ, अच्छा लगता है? गाड़ी तो आजकल हर ऐरे-गैरे के पास है, आदमी का अपना कुछ स्टेटस भी होता है कि नहीं? झूठ कहती हूँ?"

"नहीं, नहीं, बात तो तुम ठीक कह रही हो।"

पास ही मारुति का शोरूम था, उसी लाइन में फोर्ड, ह्युंदे, टाटा आदि कंपनियों के शोरूम थे। हम सभी शोरूमों में गए। मैंने पूछा, "बोलो कौन-सी जँची? मारुति स्टैंडर्ड कैसी है, हमारे जैसे छोटे परिवार के लिए बिल्कुल ठीक है, सिक्काबंद गाड़ी है और सस्ती है।"

"ऊँह, मारुति स्टैंडर्ड भी कोई गाड़ी है, यह तो आज बिलो स्टैंडर्ड है।" वे मुँह सा बनाते बोली।

"बिलो स्टैंडर्ड?"

"हाँ, और नहीं तो क्या? यह तुम्हारे असिस्टैंट वर्मा तक पर तो है, अपना कोई स्टैंडर्ड भी है कि नहीं? कोई बड़ी गाड़ी ले लो।"

"बड़ी गाड़ी क्या हम अफोर्ड कर पाएँगे?"

"अरे बैंक किसलिए बैठे हैं? थोड़ी किश्तें ही तो बढ़ जाएँगी, डेढ़, दो लाख रुपए ज्यादा की किश्तें बनेंगी कितनी?...देखा नहीं उस दिन मिसेज खन्ना मेरे हाथ में चार लड्डुओं का लिफाफा पकड़ाती हुई बोली थी, यह लीजिए बहन जी, प्रसाद।"

"क्या खुशखबरी है मिसेज खन्ना?"

"हमने एक छोटी-सी नई गाड़ी गेट्स ले ली है, खन्ना साहब तो 'होंडासिटी' लेने को कह रहे थे, मैंने ही रोका उन्हें कि भई, अपनी औकात इतनी नहीं। उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डालीं और मेरे मुँह पर झाड़ू-सी मारती ऐसी मुस्कराकर, बलखाती आगे बढ़ गई कि मेरे आर-पार निकल गई।"

"तो फिर?"

"कोई बड़ी गाड़ी ले लो, जैसे फोर्ड फ्लेयर या टाटा की 'इंडीगो' कीमत में भी कोई खास फर्क नहीं है और लंबी और बड़ी गाड़ियाँ हैं। मिसेज खन्ना को तो देखते ही आग लग जाएगी।"

"ठीक है।" उनकी बात का समर्थन करते हुए मैंने फोर्ड फ्लेयर बुक कर दी और क्रेडिट कार्ड से पचास हजार का एडवांस दे दिया।

"अब तो खुश?" मैंने उनकी ओर मुस्कान उछाली।

"थैंक्स।" वे धरती से एक फुट ऊपर उछलती-सी बोली।

इस प्रकार घूमते-घूमते हमें एक बज गया, लेकिन अभी तक कहीं महँगाई के दर्शन नहीं हुए। भूख लग आई थी, लंच का समय हो गया है।

"भई, भूख लग आई है, चलो घर चलें।" मैंने कहा।

"भूख तो मुझे भी लगी है, घर जाकर खाना बनाना अब मेरे बस का नहीं, चलो किसी ठीक-ठाक से रेस्ट्राँ में चलकर खाना खा लेते हैं।"

सामने ही महाराजा रेस्ट्राँ था। हम उसके गेट की ओर लपके, दरवाजा खुला, देखा, महाराजा की पगड़ी पहने, लाल गाउन, पैनी लंबी मूँछें धारण किए हुए हट्टे-कट्टे महाराज ने सिर झुकाकर सलाम किया और बाईं हथेली को सीने से चिपका, सिर झुकाकर दाएँ हाथ से "स्वागत है श्रीमान्" की टोन में भीतर चलने का निमंत्रण दिया। मुझे अपनी चाल में स्वतः एक परिवर्तन-सा महसूस हुआ, जो सामान्य चाल न रहकर एक नवाबी-सी हो गई थी। रेस्ट्राँ फुल था, हम लोगों को एक साथ दो खाली सीटें खोजनी पड़ीं। जैसे ही हम चेयरासीन हुए, ठंडे पानी की एक बोतल, काँच के चमचमाते दो गिलास एक ट्रे में रखे, बेयरा अवतरित हुआ। बोतल से गिलासों में पानी उँडेलकर पानी की एक घूँट भरी ही थी कि मेरी टाई सूट को पटखनी सी देता, एक वेल ड्रेस्ड, सुटेड-बूटडे, स्मार्ट युवक हाथ में नोटबुक और पेन लिए हुए पहुँचा—

"सर!"

"जस्ट ए मिनिट।" मैं बोला।

"ओ.के." कहकर वह चला गया।

मैंने मैन्यू उठाया। मेरे लिए यह छाँटना कठिन हो गया कि क्या कुछ खाया जाए। मैंने कहा, "बोलो भई, क्या लेना पसंद करोगी?"

"आप ही देख लीजिए।"

आप बताइए, आप बताइए की बहस के बाद दो एक चीजें उन्होंने बताईं, दो तीन मैंने और वेटर को इशारा किया।

"सर!"

"मटर पनीर, शाही कोफ्ता, दालमखनी, रायता, सलाद, पापड़, और बटर-नान।"

वह नोट करते-करते बोला, "एनी थिंग मोर सर?"

"नो, नो, फिलहाल यही बस।"

लंच हो गया। "खाना अच्छा था।" उन्होंने कहा।

हाँ में हाँ मिलाते हुए मैंने बेयरा को दो अँगुली उठाकर इशारा किया, "दो कसाटा।" कसाटा आइस्क्रीम टेबिल पर रखते हुए बेयरा बोला, "सर कुछ और?"

"बस और कुछ नहीं, बिल ले आओ।"

बेयरा एक ट्रे में मिश्री, सौंफ, इलायची, टुथपिक, एक कटोरी में गर्म पानी और आधा नींबू तथा 375/- का बिल रखकर ले आया। मैंने कटोरी में रखे पानी नींबू से अँगुलियों की चिकनाई छुड़ाई, नेपकिन से हाथ पोंछे और जेब से पर्स निकालकर, उसमें से 500 रुपए का नोट निकाला और तर्जनी और मध्यमा के बीच दबाकर ट्रे में ऐसे फेंका जैसे कोई बड़ा पहलवान, एक मरियल से पहलवान को धराशायी कर देता है। ए/सी रेस्ट्राँ से उठने को मन नहीं था, लेकिन बेयरा बाकी के 125/- ट्रे में रखकर ले आया। मैंने 100/- का नोट उठाया और उन्हें चलने का इशारा किया। बेयरा ने मुस्कराते हुए अटैंशन की मुद्रा में, बाएँ हाथ से ट्रे थामकर दाएँ हाथ को माथे तक ले जाकर सैल्यूट ठोका। मैं गद्‌गद होता बाहर निकल आया, मेरी चाल का फिर ट्रांसफॉर्मेशन (रूपांतरण) हो गया, पता नहीं कहाँ से एक अकड़-सी आ गई। "25/- का टिप दे दिया?" वे आँखें फाड़ती-सी बोली।

"अरे तुम नहीं समझती ये बेयरे लोग बड़े चालाक होते हैं, 100/- के नोट के साथ एक बीस रुपए का तथा एक पाँच का नोट लेकर आया था। अगर दस-दस के दो और पाँच का एक नोट लाता तो मैं 115 रुपए उठा लेता, 10 रुपए का टिप दे देता, अब 5 रुपए का टिप तो बहुत चीप लगता है ना, डर यह भी लगा रहता है कि 5 रुपए का नोट देखकर बेयरा कहीं पीछे से यह न पुकार बैठे, 'सर आपके 5 रुपए?' मानो मुझे मन ही मन जलील करते हुए कह रहा हो 'अरे इसे भी लेता जा, मेरी तरफ से बच्चे को टॉफी खिला देना, कंजूस कहीं का!' तो मुझे 25 रुपए ही टिप में देने पड़े।...भई यहाँ लंच करना है तो अपनी इज्जत को सँभालकर रखनी ही है ना, वरना 'महाराजा' ने हमें रोका था, किसी ढाबे में बैठकर खा लेते, सौ रुपए में ही सारा काम चल जाता, अरे चलो क्या फर्क पड़ता है, समझ लेंगे 400 रुपए का लंच खा लिया।

"अरे चलो आज 3 से 6 की कोई पिक्चर ही देख लें, गर्मी काफी पड़ रही है, और बहुत दिनों से कोई पिक्चर भी नहीं देखी।" धूप से बचने के लिए साड़ी के पल्लू को सिर पर रख, गोगल्स पहनते हुए वे बोली।

"हाँ, हाँ, चलो।" जैसे उन्होंने मेरे मुँह की बात छीन ली। सामने ही मॉल में 'थ्री इडियट्स' लगी हुई थी। लगा जैसे मन की मुराद पूरी हो गई हो—गर्मी में तीन घंटे शानदार हॉल में बैठकर बीतेंगे और एक बढ़िया फिल्म देखने को मिलेगी सो अलग। वहाँ पहुँचकर देखा कि टिकट विंडो बंद थी और हाउस फुल की तख्ती लटकी थी। सारा उत्साह भंग हो गया, लगा जैसे जीती बाजी हार गया हूँ।

"देखो ब्लैक में मिल जाए तो?" उन्होंने छूटी ट्रेन को भागकर पकड़ने की-सी कोशिश करने की सलाह दी।

"ब्लैक में अगर मिल भी गई तो 100, 200 रुपए ज्यादा देने पड़ेंगे।" मैंने सूखे गले से कहा।

"अरे तो क्या हुआ, समझ लेंगे इस महीने जो एक पिक्चर कम देखी, ट्राई तो करो।" मुझे आगे को धकेलते हुए मचलती-सी बोली। मैंने इधर-उधर एक चक्कर काटा पर किसी भी कीमत पर टिकिट नहीं मिला। मैंने कहा, "यार किसी भी भाव पर कोई टिकिट नहीं मिला। और फिर पिक्चर शुरू हुए भी काफी देर हो गई, चलो भगवान जो करता है, अच्छा करता है वरना दो-चार सौ खर्च भी करते और पूरी पिक्चर का मजा भी

न ले पाते।"

निराश होकर हम बाहर निकले। सूरज अंगारे बरसा रहा था।

"देखो सामने सड़क पार बस स्टॉप है।" इतना ही कह पाया था कि वे छोटे बच्चे की तरह पैर पटकती तुनक पड़ी, "बहुत थक गई हूँ, ऐसी गर्मी में बस में लटककर नहीं जाया जाएगा मुझसे, कोई टैक्सी कर लो।"

"मैं तो कह रहा था कि थोड़ी-सी तकलीफ उठाकर 150, 200 रुपए बच जाएँ तो क्या बुरे? बस से 20 रुपए में ही पहुँच जाएँगे।" मैं ठीक प्रकार अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि उन्होंने हाथ उठाकर सड़क पार जाती हुई टैक्सी को पुकारा, "टैक्सी!" और हम टैक्सी से, घर पहुँच गए।

बहुत थक गए थे, लंच खा ही चुके थे, झटपट पंखा खोला, ए/सी ऑन किया, कपड़े बदले और धम्म से पलंग पर पड़ गए। पड़ते ही आँख लग गई। संध्या के छह बज चुके थे। वे उठी और चाय बनाई। हम दोनों चाय पीने बैठ गए।

"बेकार में इतने पैसे खर्च कर दिए, शरीर तुड़ाया सो अलग। जिस काम में निकले थे वह तो हुआ ही नहीं, लौट के बुद्धू घर को आए।" उदास स्वर में मैं बोला। वे अचानक ही नींद में जगते से बोली, "अरे, आज शनिवार है, मुझे तो ध्यान ही नहीं रहा, चलो सामने ही शनिबाजार लगा है, हफ्ते भर की सब्जी, फल ले आएँ।" झट पट तैयार हुए, दो तीन थैले उठाए और घर से बाहर निकल सड़क पर आ गए। उन्होंने एक रिक्शावाले को हाथ दिया, रिक्शा रुका और हम दोनों रिक्शे में बैठ लिए—"चल भैया, ये सामने ही शनिबाजार लगा है।" जरा-सी देर में ही शनिबाजार पहुँच गए।

"कितने पैसे?" रिक्शा से नीचे पैर धरते-धरते श्रीमती जी ने पूछा।

"पंद्रह रुपए बीबी जी।" रिक्शा के हैंडिल पर झूलते अपने गमछे से मुँह का पसीना पोंछते हुए वह बोला।

"पंद्रह रुपए?" वे आँखें फाड़ती बोली।

"हाँ, बीबीजी, 15 रुपए।"

"अरे दस कदम के पंद्रह रुपए? अभी मैं पिछले हफ्ते आई थी, मैंने दस रुपए दिए थे, अब पंद्रह रुपए?" वे क्रोध में उफनती बोली, "पैसे

क्या पेड़ पर लगते हैं? जो मुँह में आया बोल दिया।''

''बीबी जी, दो सवारियाँ ढोकर लाया हूँ, गर्मी का हाल देख रही हैं आप! क्या बनता है 15 रुपए में?''

''बने न बने, मैं पंद्रह रुपए नहीं दूँगी।''

''देंगी कैसे नहीं? गरीब के 5 रुपए मारकर आप अमीर बन जाएँगी? 5 रुपए की इतनी ही कीमत है तो पैदल क्यूँ नहीं चली आईं, 10 रुपए भी बच जाते।''

''ऐ, तमीज से बातें कर।'' उसकी ओर तर्जनी उठा इन्होंने विस्फारित नेत्रों से कहा।

''हम हाड़तोड़ मेहनत करते हैं, तब कहीं दो वक्त की रोटी का जुगाड़ हो पाता है।''

''हम तो घर बैठे ही नोट छाप लेते हैं, जैसे हम कोई मेहनत नहीं करते, ये ले 10 रुपए लेने हों तो ले, ना लेने हों मत ले।'' कहकर 10 रुपए का एक नोट उन्होंने रिक्शा की सीट पर तड़ाक से पटका और आगे को चलीं। रिक्शा वाला पीछे से बोलता रह गया, ''रख लीजिए 5 रुपए बीबीजी, 5 रुपए में आप अपनी कोठी खड़ी करवा लेना, मैं समझूँगा मैंने एक सवारी कम बिठा ली।''

''अच्छा, जा जा, ज्यादा जबान न चला।'' इन्होंने पीछे मुड़कर कहा।

''जवान आप चला रही हैं या मैं, गरीब हूँ तो जो चाहे कह लेंगी।''

मैं चुपचाप दोनों के संवाद सुन रहा था। श्रीमती बड़बड़ करती आगे बढ़ती जा रही थीं—''हद्द कर दी है इन रिक्शा वालों ने, दो कदम की दूरी के 15 रुपए! यूँ लुटाते फिरेंगे तो हो लीं हमारी नैया पार।''

अंधकार घिर चुका था। सड़क के दोनों ओर सब्जी, फलवालों की ठेलियाँ पंक्तिबद्ध खड़ी थीं। सभी ने अपनी-अपनी ठेलियों पर गैस के छोटे-छोटे सिलेंडर जला लिए थे, दूर तक चमचम करती रोशनी फैल गई थी, ठेले पर लदे फलों सब्जियों की चमक दुगुनी हो गई थी, ठेलियों के बीच-बीच में कुछ लोगों ने जमीन पर ही स्टाल लगाई हुई थी, चहल-पहल और विक्रेताओं की जोर-जोर से आती आवाजें कानों को भली नहीं लग रही थीं, हर कोई अपनी चीज के रेट जोर-जोर से बोलकर ग्राहकों को सुना रहा था—10 रुपए, 10 रुपए।

मैंने कहा, "10 रुपए किलो, बीन्स?"

"10 रुपए पाव! 40 रुपए किलो?"

दूसरी ओर से आवाज सुनाई दी—"ढाई किलो, ढाई किलो।"

"कितने में ढाई किलो?"

"10 के ढाई किलो आलू।"

"चलो पहले 'विष्णु स्वीट्स' पर कुछ खा पी लें, खरीददारी के बाद तो फल सब्जी इतने हो जाएँगे कि उठाए-उठाए चला नहीं जाएगा।" श्रीमती बोली।

शनिबाजार वाली सड़क पर ही थोड़ी आगे 'विष्णु स्वीट्स' की बड़ी-सी दुकान है। दूकान के बाहर ही सड़क से सटी हुई खाली ज़मीन पर पचासों कुर्सियाँ टेबुल लगी हुई थीं, काफी खाली पड़ी थी। चूँकि सेल्फ सर्विस थी, अतः पहले टोकन लेना पड़ता था।

"बोलो क्या खाओगी?"

"एक प्लेट समोसे, एक प्लेट गुलाब जामुन ले आओ, गोल गप्पे तो उसी के पास खड़े होकर खाने में मजा आएगा।" प्राइस लिस्ट के हिसाब से 120 रुपए के तीन टोकन ले लिए। गुलाब जामुन तो मुझे काउंटर पर ही मिल गए पर समोसे, दुकान के बाहर बन रहे थे। मैंने कारीगर के सामने टोकन रख दिया, "एक प्लेट समोसे।"

"बैठ जाइए साहब, पहले ये जो खड़े हैं, इन्हें निपटा लूँ।" मैं एक तरफ हट गया। एक बड़े से थाल में कच्चे समोसे भरकर एक लड़का कारीगर के तख्त पर रख गया। कारीगर उन्हें धीरे-धीरे कढ़ाई में डालता गया। मैंने गिने तो नहीं पर अनुमानतः पचास से कम नहीं होंगे। वह कढ़ाई में एक बड़ी-सी पौनी से समोसे तल रहा था, मैं अनुमान लगा रहा था कि बस अब 5, 7 मिनिट में ही नंबर आ जाएगा। वह भट्टी पर रखी कढ़ाई से समोसे निकाल निकालकर एक बड़ी-सी ट्रे में डालता गया, दूसरा लड़का एक थैला उठाता और उसमें चार समोसे, एक ओर रखी खट्टी मीठी चटनी का एक-एक पाउच उसमें डालता और एक एक ग्राहक को पकड़ाता जा रहा था। मेरा नंबर नहीं आया, सोचा दूसरी बार में मेरा नंबर आ जाएगा, लेकिन दूसरी बार भी नहीं आया। मैं झुँझला रहा था, "अरे भई जल्दी करो, कब तक खड़ा रहूँगा।"

"साहब, नंबर से दे रहा हूँ, आपका नंबर. अभी थोड़ी देर में आएगा।"

मुझे आराम से बैठी हुई श्रीमती जी पर क्रोध-सा भी आया। खैर खड़े-खड़े काफी देर पैर तुड़ने के बाद मेरा नंबर आया, गुलाबजामुन और समोसे खाकर हम गोल गप्पों के स्टाल पर पहुँचे। शुक्र है वहाँ इतनी देर इंतजार नहीं करना पड़ा। एक और स्टाल देखा, लोग-बाग आइस्क्रीम, गोलगप्पों, आलू की टिकिया आदि पर टूटे पड़ रहे थे, कोई भी आइटम 40, 50 रुपए से कम न था। कहीं भी ऐसे दुकानदारों को फुर्सत नहीं थी, ग्राहकों की लाइन लगी हुई थी। बीकानेर वाला, अग्रवाल स्वीट्स, हल्दीराम जैसी दुकानों पर 1500, 1500 रुपए किलो की मिठाइयाँ खरीदी जा रही थीं—कहीं कोई मोल-भाव नहीं था, पहले पैसे दीजिए, फिर माल लीजिए।

"चलो, अब आराम से हफ्ते भर की सब्जी, फल ले लेंगे।" वे एक ठेली पर रुकी, "लौकी क्या भाव है?"

"20 रुपए किलो।"

"20 रुपए किलो? इतनी महँगी?" आश्चर्य में बोली।

"क्या करें बहिन जी, जैसी ऊपर से मिलेगी, वैसी ही तो बेचेंगे ना?"

"नहीं, नहीं, 15 रुपए किलो दो। पीछे ऐसी ही लौकी 15 रुपए मिल रही है।"

मैंने सोचा कि यह पहली ही ठेली है जिससे इन्होंने भाव पूछा है, झूठ क्यूँ बोल रही हैं?

"बहिन जी, ऐसी लौकी 15 रुपए ला दोगी तो मुफ्त में दे दूँगा।"

"तो क्या मैं झूठ बोल रही हूँ?"

"नहीं, आप झूठ क्यूँ बोलेंगी? वहीं से ले लीजिए।" उसने मुँह बनाते हुए कहा।

"चलो 16 रुपए लगा लो।"

"नहीं बहिन जी, आप जिद ही कर रही हैं तो 18 रुपए लगा देता हूँ, बस।" कहकर उसने मुँह फेर लिया।

"अच्छा चलो, न तुम्हारे न मेरे, 17 रुपए दो।" उन्होंने मानो एक हथियार चलाया।

"चलो बहिन जी, मैं समझूँगा भाव के भाव दे दी, बोलो कितनी दूँ? दो किलो तोल दूँ?"

"अरे नहीं भैया, हम दो ही तो हैं घर में, बस आधी किलो दे दो।"

उन्होंने दो तीन लौकियों में नाखून गड़ाकर देखने के बाद एक पतली सी हरी लौकी उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा। उसने काटकर आधा किलो से कुछ ज्यादा तोली और लिफाफे में रखकर श्रीमती जी को पकड़ा दी। उन्होंने 10 रुपए का नोट उसकी ओर बढ़ाया। उसने एक रुपया श्रीमती की ओर बढ़ाया।

"अरे एक रुपया, साढ़े आठ रुपए बनते हैं, डेढ़ रुपए वापस करो, अठन्नी और लाओ।"

"मैंने पहले ही अठन्नी की लौकी फालतू कर दी है, छुट्टी अठन्नी कहाँ से लाऊँ?"

"फालतू कहाँ कर दी, आधा किलो ही तो तोली है।" कहते हुए लिफाफा उसकी ओर बढ़ाया।

उसने लौकी तोलकर दिखाई, वह वाकई आधा किलो से ज्यादा थी, "देखिए बहिन जी।"

"अरे लौकी तोल रहे हो या सोना?" उन्होंने कुछ उच्च स्वर में कहा।

उसने ठेली पर रखी कटी हुई एक लौकी से एक टुकड़ा काटा और थैली में रखते हुए, थैला उनकी ओर बढ़ाया, "अब तो खुश बहिन जी?"

मैं खड़ा-खड़ा झुँझला रहा था। आखिर मुझसे रहा नहीं गया, "अरे चलो भी, अठन्नी के पीछे क्या चिक् चिक् कर रही हो।" उन्हें बाँह से आगे को धकेलते हुए कहा।

"अठन्नी की कोई कीमत नहीं तुम्हारी नजर में?" वे बड़बड़ाती-सी आगे को खिसकी। उन्होंने कुछ और ठेलियों से फलों और सब्जियों की ठोक-बजाकर खरीददारी की। सब जगह एक-सी ही सिचुयेशन देखने को मिली एक सेब वाले ने तो यहाँ तक कह दिया, बहिन जी औकात और दिल में फर्क होता है। औकात तो, आपकी सारी की सारी ठेली खरीद डालने की है, पर दिल? जाइए, आगे सस्ते मिल जाएँगे।

मैं उसका हौसला, अकड़, जिसे बद्तमीजी की संज्ञा दी जा सकती है, देखकर आश्चर्यचकित हो गया। कभी-कभी तो ये फल वाले एक सेकिंड में ही टोपी उछाल देते हैं। "जा जा औकात नहीं धेले भर की और ख्वाब महलों के।" और मेरे मुँह से अचानक ही निकल गया—"मिल गई, मिल गई।"

"क्या मिल गई?" उन्होंने पूछा।

"महँगाई, नहँगाई मिल गई, साली मेरे घर में ही छिपी बैठी थी और मैं उसके दर्शन के लिए दर-दर भटकता रहा।"

"चारों ओर महँगाई, महँगाई के स्यापे हैं, और मुझे दिखाई ही नहीं पड़ा।"

फिर मेरे भीतर से एक आवाज आई। महँगाई है—चारों तरफ के शोर में है, नुक्कड़ वाले पनवाड़ी की दुकान पर खड़े लोगों की बहस में है, प्रसार संख्या बढ़ाने के इच्छुक अखबारों में है, अपनी टी.आर.पी. बढ़ाने के लालची टी.वी. चैनलों में हैं, सरकार की चूलें हिलाने के इच्छुक विपक्ष की नीयत में हैं, अपनी पार्टी के शक्ति प्रदर्शन हेतु किराए पर इकट्ठी की गई भीड़ के नारों में हैं, कुल मिलाकर मैं तो यही कहूँगा कि महँगाई कहीं नहीं बस अपनी सोच में है, अपने घर के बजट बनाने की बेवकूफी में है।

फिर कहीं है तो बस थोड़ी सी, दाल सब्जी में, दूध चीनी में, खाने पीने की चीजों में है, वह भी एक महीने में सिर्फ इतनी ही, जितनी कि हम 'महाराजा' में एक वक्त के लंच में खर्च कर देते हैं।

●

अप्रैल से महँगाई कम होगी–शरद पंवार

सुबह-सुबह ही, मेरी दृष्टि, नभाटा के प्रथम पृष्ठ पर छपे, इस समाचार पर पड़ी–"अप्रैल से महँगाई कम होगी–शरद पंवार"। मन ने कहा, "माननीय मंत्री हैं, तो विश्वास करना ही चाहिए–सृष्टि का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार, विश्वास पर ही तो टिका है। उपर्युक्त समाचार से, मेरी स्मृतियों के ढेर से निकल, मेरी दो सुषुप्त-स्मृतियाँ, मेरे वर्तमान से आ मिलीं।

स्मृति नं. एक–मेरे एक चाचा जी हुआ करते थे, उनके एक समर्पित भक्त थे गोविंददास। एक दिन मैंने सुना कि गोविंददास ने उनसे कहा, "पं. जी, मेरी धोती फट गई है, एक धोती दे दीजिए।" चाचा जी बोले, "धोती? ..... हाँ देंगे।" बात, आई गई हो गई, लेकिन कुछ दिनों बाद, मैंने फिर सुना, "पं. जी, एक धोती दे दीजिए, मेरी धोती फट गई है।" अपनी उदार वृत्ति के कारण चाचाजी ने फिर कहा, "हाँ, हाँ, धोती अवश्य देंगे।" इस बात की पुनरावृत्ति कई बार हुई तो मैंने ऊब कर चाचाजी से कहा, "चाचाजी, इस बिचारे गोविंददास को धोती दे दीजिए ना, महीनों से माँग रहा है, नहीं देनी है, तो मना कर दीजिए, यह बिचारा आस लगाए तो न बैठा रहेगा।" इस पर चाचाजी बोले, "अरे जब इसे बार-बार माँगने में शर्म नहीं आती, तो मुझे बार-बार आश्वासन देने में शर्म कैसी? इसके अलावा, झूठ बोलता है यह हरामी गोविंददास। महीनों से सुन रहा हूँ कि धोती फट गई है, अभी तक तो फटी नहीं।" कहकर उन्होंने आवाज़ लगाई, "यहाँ आ रे गोविंददास।" गोविंददास आया और हाथ जोड़कर बोला, "जी पं. जी।" चाचाजी ने कहा, "कहाँ फटी है तेरी धोती? कहीं भी तो नहीं, मुझे तो तू कहीं से भी नंगा नजर नहीं आ रहा है। झूठ बोलता है।" "यह देखिए पं. जी, जगह-जगह से सिली हुई है।"

कहकर गोविंददास ने तीन चार जगह से सिली हुई अपनी धोती दिखाई। इस पर चाचाजी बोले, "अरे ठीक तो है यह, आदमी को अपनी औकात में रहना चाहिए, उसे दिखावा नहीं करना चाहिए, हाँ, उसे अपनी इज्जत आबरू जरूर ढक कर रखनी चाहिए–सो तूने रखी हुई है। नंगा तो नहीं दिखाई दे रहा कहीं से भी, तो मैं कैसे मान लूँ कि तू नंगा हो रहा है, तेरा काम चल रहा है, इसी तरह चलाए जा, जब नंगा हो जाएगा तब देख लेंगे।"

गोविंददास मर चुका है। मंत्रीजी के उक्त समाचार ने गोविंददास को मेरे भीतर जिंदा कर दिया है। चाचा जी ने धोती का आश्वासन दिया था गोविंददास को–''जरूर देंगे धोती।'' भूखी जनता को भी आश्वासन दिया था मंत्री जी ने। गोविंददास धोती के इंतजार में ही मर गया और जनता मंत्री जी के आश्वासन से पूरी तरह तो मरी नहीं। हे गोविंददास! मैं जानता हूँ, तेरी धोती तार-तार हो गई थी, तू अपने नंगेपन को नहीं झेल पा रहा था और तूने निगमबोध घाट पर जा कर चैन की साँस ली थी। चाचाजी इतने निर्दयी नहीं कि तुझे धोती न दें, जरूर देंगे, पर वे प्रमाण चाहते थे तेरे नंगेपन का, वह उन्हें मिल गया। अब वे कहते हैं, "ठीक है, गोविंददास की धोती वाकई फट गई थी, मैं वायदा निभाऊँगा, उसे धोती दूँगा। तो गोविंददास धीरज रख, तेरे श्राद्ध के दिन वे तुझे एक धोती अवश्य देंगे। पर मुझे, तुझसे एक शिकायत है गोविंददास! तुझे चाचाजी की अलमारी का ताला तोड़कर एक धोती जबरदस्ती निकाल लेनी चाहिए थी, तू उनका भक्त था, जब तू पूर्णतः उनके प्रति समर्पित था तो जबरदस्ती छीन लेने में अपराध बोध की भावना तेरे भीतर नहीं आनी चाहिए थी, ऐसे में तो तुझे उनकी पहनी हुई धोती को झटक कर उतार लेने में भी कोई संकोच नहीं करना चाहिए था–वे नंगे हो जाते, तो हो जाते। परमात्मा तुझे शान्ति दें।

स्मृति नं. 2–मैं सातवीं कक्षा का छात्र था। कक्षा में मास्टर जी पढ़ा रहे थे। मेरा एक साथी खड़ा हुआ और बोला, "मास्टर जी, जाऊँ? बाहर मूतराल्य में कर आऊँ?" मास्टरजी ने कहा, "बैठ जा।" और पढ़ाने लगे। थोड़ी देर बाद वह फिर बोला, "मास्टर जी जोर से लगा है, कर आऊँ?" "बैठ जा, बैठ जा।" और फिर पढ़ाने लगे। गर्जे कि थोड़ी-थोड़ी देर में वह लड़का कहता रहा, "मास्टर जी, राम कसम बहुत जोर से लगा है, निकला

अप्रैल से महँगाई कम होगी–शरद पंवार

जा रहा है।" मास्टर जी उसके पास आए और उसके मुँह पर एक चाँटा रसीद करते हुए बोले, "कहाँ निकला है दिखा, इतनी देर से डिस्टर्ब कर रहा है कि निकला जा रहा है, निकला जा रहा है, जोर का लगता तो अब तक निकल न जाता।" और वह लड़का सुबकता हुआ बैठ गया—बैठे-बैठे ही उसकी सारी निकर, उसकी सीट गीली हो गई, उसके जूते लबालब भर गए। शर्म के मारे वह उठ नहीं पा रहा था। क्लास खत्म हो गई, मास्टर जी उसके पास आए, बोले, "अबे जाता क्यों नहीं मूत्रालय, यहाँ बैठा क्या कर रहा है? जा भाग, कर आ, जाकर, "मास्टर जी ने उसे कान पकड़ कर उठाया और देखा कि उसकी निकर, उसकी सीट और फर्श काफी गीला हो गया है। मास्टर जी ने उसके मुँह पर एक जोर का चाँटा मारा और चीखकर बोले, "यह क्या कर दिया कम्बख्त, इसे क्या अब तेरी माँ साफ करेगी?" वह रोता बिलखता अपने घर चला गया।

हे मेरे बाल सखा! रोता क्यूँ है रे? मैं जानता हूँ तेरे पास दूसरी निकर नहीं है, कल स्कूल क्या पहन कर आएगा? पता नहीं स्कूल आने की हिम्मत संजो भी पाएगा कि नहीं? पगला था तू, तू शर्म क्यों करता है, तेरे लिए कैसी लोक लाज? साहस से काम लेता, नंगा ही चला जाता स्कूल, लोकलाज जिसे होगी उसे होगी, पर मैं यह भी जानता हूँ कि लोकलाज का भय प्रजा-पालकों को तो है ही नहीं, मास्टर जी को भी नहीं, क्योंकि मास्टर जी गलती कर ही नहीं सकते। मुझे मंत्री जी "थ्री इन वन," नजर आए, मंत्री जी-चाचाजी-मास्टरजी।

है श्रोताओं, दर्शकों, पाठकों, समझदारों, नासमझदारों, यकीन रखो, अप्रैल में, कृषि मंत्री अपने बेड़े के खूँटे से बँधी महँगाई का जेबड़ा खोल देंगे और महँगाई भाग जाएगी। क्योंकि अब मंत्री जी को शायद विश्वास हो चला है कि महँगाई को बाँधे रखना अब उचित नहीं, महँगाई भगाओ खुशहाली लाओ। तुम्हें विश्वास करना चाहिए, विश्वास करना तुम्हारी नियति है, विश्वास दिलाना उनका धर्म। व तुम्हें टरकाते रहेंगे, तुम टरकते रहोगे, इसके अतिरिक्त तुम्हारे पास कोई चारा नहीं।

•

बार्टर सिस्टम

मैंने एक प्रकाशक के कमरे का दरवाज़ा खोला और उसमें निष्तकल्लुफ प्रविष्ट हुआ। 'कहिए'। प्रकाशक महोदय बोले। मैंने कहा, "सर, मैं सेवानिवृत्त हिन्दी प्रोफेसर डॉ. शशिकान्त 'मयंक', एम.ए., पी-एच.डी.।" प्रकाशक बड़े अदब से बोले, 'आइए प्रो. साहब, नमस्ते, बैठिए....माफ कीजिएगा, मैं भारत भर के विश्वविद्यालयों के सभी प्रोफेसरों के नाम जानता हूँ, पर ऐसा कोई नाम नहीं सुना मैंने, किस विश्वविद्यालय से रिटायर हुए आप?" "जी, मैं मेरठ विश्वविद्यालय से।" प्रकाशक को हिन्दी प्रोफेसरों के नाम का ज्ञान मुझसे अधिक था। वे बोले, "पर मेरठ विश्वविद्यालय में तो हिन्दी विभाग है ही नहीं, जहाँ कोई प्रोफेसर हो।" मैंने सँभलते हुए कहा, "जी मैं मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक डिग्री कॉलेज से सेवानिवृत्त हुआ हूँ।" इस पर वे बोले, "अच्छा, अच्छा, मुझे पता नहीं था कि डिग्री कॉलेज के लेक्चरर भी प्रोफेसर होने लगे हैं, हाँ रीडर पदनाम तो उन्हें मिल गया है, क्या प्रोफेसर पदनाम भी उन्हें मिल गया है?" चश्मे के भीतर से व्यंग्य भरी मुस्कान बिखेरते हुए वे बोले।

मैंने साहस बटोरते अध्यापकी रुआब से कहा, "बात यह है श्रीमन्, आजकल तो इंटर का अध्यापक भी अपने आपको प्रोफेसर लिखने लगा है, फिर मैं तो डिग्री का हूँ, ऊपर से पी-एच.डी.। प्रकाशक महोदय ने सरल भाव से कहा, "डॉ. तो प्राइमरी के अध्यापक भी देखे हैं मैंने, क्लर्क लोग भी पी-एच.डी. देखे हैं। क्या वे सब प्रोफेसर लिखने लगें?" मैं चुप। मुझे मौन देखकर वे बोले, "तभी तो विद्वानों, प्रोफेसरों ने अपने नाम के आगे डॉ. लगाना छोड़ दिया है, केवल प्रोफेसर ही लिखते हैं। खैर, छोड़िए, कहिए किसलिए कष्ट किया प्रोफेसर साहब?" हकलाते हुए, मैंने कहा, "जी, मेरी एक कविता की पुस्तक है।"

"बड़ी अच्छी बात है, कोई खंडकाव्य या महाकाव्य होगा?"

"जी नहीं, समय-समय पर लिखी हुई कविताएँ हैं।"

"पर आपने तो कहा था एक कविता की पुस्तक, मैंने समझा कि कोई लम्बी कविता, खंडकाव्य वगैरह होगी, जिसने पूरी पुस्तक का आकार ग्रहण कर लिया। ठीक है, बोलिए फिर क्या करूँ?" कहकर प्रकाशक ने मेरी ओर देखा। मैं सोच रहा था कि यह तो घाघ है, मेरे भाषाज्ञान की तुलाई कर रहा है, थूक निगलते मैंने कहा, "जी, मेरी याचना है कि आप इसे छाप दें।"

"पर मेरा तो कोई मुद्रणालय नहीं जो मैं इसे छाप दूँ, मैं ही अपनी पुस्तकें औरों के यहाँ छपवाता फिरता हूँ।" मुझे फिर अपनी गलती महसूस हुई, मैंने सुधार करते हुए कहा, "जी मेरा आशय है कि क्या आप इसे प्रकाशित कर देंगे?"

वे बोले, "अच्छा पहले यह बताइए डॉ. साहब कि मैं कौन हूँ?"

"जी आप प्रकाशक महोदय हैं।" उनके प्रश्न का सोचते हुए मैंने उत्तर दिया।

'करैक्ट, बिलकुल ठीक समझा आपने, मेरा काम?"

मैंने सोचा यह घाघ मेरी परीक्षा लेने पर तुला है, सहस्रों लड़कों का सामना किया है मैंने, यह तो किस खेत की मूली? मैंने सोच-समझकर कहा, "जी आपका काम है पुस्तकें प्रकाशित करना।"

"क्यों करता हूँ प्रकाशन?" इस पर मुझे मौन देखकर वे बोले, "इसलिए करता हूँ कि मुझे अपने बाल-बच्चों का पेट पालना है, गुरुद्वारे की रोटियों पर तो जिन्दगी गुजारी नहीं जा सकती, जिन्दगी गुजारने के लिए पैसों की आवश्यकता होती है। तो मैं डॉक्टर साहब, पुरुषार्थ-चतुष्टय के चतुर्थांग का पालन करता हूँ—फिर एकै साधे सब सधैं—अर्थ है तो धर्म भी कमा लिया जाएगा और कामपूर्ति धन से स्वतः हो जाती है, रह गया पुरुषार्थ चतुष्टय का अन्तिमांग, मोक्ष, तो उसकी चिन्ता करता नहीं, जो चीज़ अपने हाथ की नहीं उसकी चिन्ता कैसी?"

मैंने मन ही मन सोचा कि यह तो दर्शन पढ़ाने लगा मुझे, मैंने सहज होते हुए कहा, "तो क्या मेरी पुस्तक को प्रकाशित कर देंगे?" उन्होंने फिर धोबीपाट मारा, "डॉ. साहब अगर यह पुस्तक है तो जाहिर है, प्रकाशित होने के बाद ही पुस्तक बनी होगी। आप कदाचित् कहना चाहते

हैं कि मेरी पांडुलिपि को प्रकाशित कर उसे पुस्तक रूप देने की कृपा करने का कष्ट करेंगे।''

''जी हाँ, बिलकुल यही।'' ''तो क्यूँ नहीं करूँगा प्रकाशित, जरूर करूँगा, यह तो मेरा पेशा है।'' मैंने पलटवार मारा, ''तो आप पेशा भी करते हैं श्रीमन्।'' मैं भी कहाँ चूकने वाला था और उनकी ओर एक कुटिल-सी दृष्टि से देखा! वे बोले, ''मेरा मतलब, यह मेरा धन्धा है।'' प्रतिहिंसा की भावना के वशीभूत मैंने फिर दूसरा बाण मारा, 'अच्छा आप धन्धा भी करते हैं?'' वे छटपटाते से बोले, ''सभी धन्धेबाज हैं डॉ. साहब, आपमें और धन्धेबाज में बताइए क्या अन्तर है, आप पहले अध्यापकी का धन्धा करते थे, ट्यूशन आदि अनैतिक कार्यों से धन कमाते रहे होंगे, अब आप कविताबाजी करते हैं, इससे भी कुछ-न-कुछ कमाना चाहते हैं आप, तो इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं, हाँ तो मतलब की बात पर आइए, मैं प्रकाशित करूँगा, अवश्य करूँगा।''

मेरी जान में जान आई। मैंने उनके सामने पांडुलिपि रख दी। उसके पन्ने पलटते हुए वे बोले, ''कोई बीसेक हजार रुपए खर्च होंगे इसमें, फिर आप कुछ पारिश्रमिक भी चाहेंगे।'' ''आप देंगे तो ले लूँगा, न देंगे तो आपसे कहूँगा नहीं।'' ''नहीं, नहीं, हम पारिश्रमिक जरूर देते हैं, हम प्रकाशक हैं, कवि का रक्तपान करने वाले नहीं।''

''जी, आप जैसों के वेश में ही भगवान अवतार लेते हैं।'' कहकर मैंने उन्हें आँखों आँखों में तौलने का उपक्रम किया कि मेरे अलंकरण से वे फूलकर कुछ कुप्पायमान हुए कि नहीं?

''बताइए डॉ. साहब रॉयल्टी कितने परसैंट लेंगे?''

अभिभूत होते हुए मैं बोला, ''देखिए श्रीमन्, मैं कह चुका हूँ कि मैं, यह आप पर छोड़ता हूँ, जो भी आप प्रसाद-रूप में पत्रम् पुष्पम् देंगे, मैं ग्रहण कर लूँगा।''

''फिर भी?''

मैंने सोचा जब ये आग्रह कर ही रहे हैं तो कुछ बोलने में क्या हानि है। ''चलिए बीस नहीं, पन्द्रह नहीं, दस परसेंट रख लीजिए।''

''ठीक है, मुझे मंजूर।'' सुनते ही मैं प्रसन्न हो गया, जैसे मेरी लाटरी खुल गई हो।

''बस आखिरी सवाल।'' प्रकाशक महोदय ने कहा।

"जी बोलिए।"

"चूँकि ये पुस्तकें बिकती तो हैं नहीं, हमारे गोदाम में जगह ही घेरती हैं, फिर भी मैं प्रकाशित करूँगा। बताइए, इनमें से आप कितनी प्रतियाँ खरीदेंगे?"

मुझे मौन देखकर वे आगे बोले, "बस अधिक नहीं, एक हजार प्रतियाँ प्रकाशित करूँगा, आप 500 प्रतियाँ खरीद लीजिएगा बस। और प्रकाशित भी ऐसी करूँगा कि देखने वाला, देखता ही रह जाएगा, वाह-वाह कर उठेगा।" मैं साहस बटोरकर बोला, "जी मैं क्या करूँगा इन पुस्तकों का?"

प्रकाशक बोले, "लेकिन मैं क्या करूँगा? आप तो फिर भी कुछ-न-कुछ कर लेंगे, मेरी पुस्तक सूची में तो एक नाम का इजाफा हो जाएगा, बस।"

मैंने पूछा, "बताइए, मैं क्या कर लूँगा इनका?"

"अरे डॉ. साहब, आप बहुत कुछ कर लेंगे, आप अपनी प्रतियाँ हर किसी को भेंट करेंगे, वे मानें न मानें, पर आप उन्हें जरूर लाचार कर देंगे कि वे आपको कवि मानें। मैं तो स्रष्टा-रूप हूँ, कवि का जन्मदाता, कवियों के जंगल में एक कवि-पौध और रोप दूँगा, कवियों की भीड़ में आपको जबरदस्ती इस प्रकार घुसेड़ दूँगा जैसे दिल्ली की ब्लू लाइन में कंडक्टर पैसेंजर को धक्का दे-देकर ठूँसता रहता है। डॉ. साहब घाटे का सौदा नहीं है, यह तो आप जानते ही होंगे कि जब तक प्रकाशक का वरदहस्त आपके सिर पर नहीं होगा, आप कवि नहीं बन सकते। यह मत समझिए मैं अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन रहा हूँ, यह एक नग्न सत्य है, अर्थशास्त्र का थोड़ा-बहुत ज्ञान तो होगा आपको?" उनकी बात को विराम देते हुए मैंने उत्साहित हो कहा, "जी, बी.ए. में अर्थशास्त्र एक विषय था मेरा।"

तब तो आप बार्टर सिस्टम को जानते होंगे। बस यह बार्टर सिस्टम का नया अवतार है। इसे आप चाहें तो 'गिव एंड टेक' की संज्ञा दे सकते हैं, इस हाथ दे, उस हाथ ले, परोपकाराय पुण्याय कोई नहीं बैठा यहाँ।"

"बताऊँगा सोचकर", कहते हुए मैंने अपनी पांडुलिपि उठाई और अखाड़े में पिटे हुए वीर की भाँति मुँह लटकाकर चला आया।

●

टी.वी. की चुटिया

अपनी बात शुरू करने से पूर्व, मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भैया टी.वी. वालों, चोटी और चुटिया में अन्तर समझो, चुटिया चोटी का संक्षिप्त संस्करण है। जिसे आप चोटी, चोटी कह कर चिल्लपौं मचा रहे थे, वह चुटिया है चुटिया।

दिनांक 06.01.010 की रात टी.वी. पर चुटिया देखी, वह भी कटी हुई—स्कूल के फादर ने देखा कि लड़के के सिर पर चोटी है, उससे लड़का मॉडर्न नहीं दिखाई पड़ता। फादर को बदसूरती क्यूँ कर बर्दाश्त होती, अतः उन्होंने उसकी चुटिया काट डाली। एक मामूली सी हिन्दू जाति के, मामूली से ब्राह्मण परिवार के, मामूली से लड़के की, कटी हुई चुटिया थी वह—सिर के थोड़े से बढ़े हुए बालों से काटी हुई चुटिया, जिसे मुद्दा बना टी.वी. वालों ने एक हंगामा खड़ा कर दिया, मानों भगवान शंकर के निवास, पवित्र कैलाश पर्वत की चोटी काट डाली गई हो। नाक कटने पर तो आदमी नकटा हो जाता है, पर चुटिया कटने से तो लड़का अधिक सभ्य सुन्दर दिखने लगा है, यहाँ तक कि लड़कियाँ भी आज अपनी चोटी स्वयं काटकर अधिक सुन्दर बन जाती हैं। कोई एक उदाहरण तो दीजिए कि किसी चोटी वाली लड़की ने सौंदर्य प्रतियोगिता जीती हो। फिर ऐसी हेय वस्तु पर इतना स्यापा?

आखिर क्यूँ नहीं समझते ये लोग कि चुटिया कटने से तो लड़का अधिक सुन्दर दिखने लगता है। खुद तो चोटी रखते नहीं, ये टी.वी. वाले निमुच्छे लोग, दूसरों की चुटियाओं की सुरक्षा के स्वयंभू ठेकेदार बन जाते हैं और यह भी नहीं समझाते कि बेढंगी केशराशि, खूबसूरत सी जुल्फों में बदल गई। अरे, बेचारे फादर ने तो चुटिया रखने वाले लड़के का, मुफ्त में केश-विन्यास किया है, उसे ठीक ढंग से रहना सिखाया है, अपने शिष्यों

को सही शिक्षा देने वाले गुरु का धर्म निभाया है और उसे एक हिन्दू-धर्म-विरोधी कारस्तानी करार दे दिया गया, क्रिश्चियनिटि का प्रचारक, प्रसारक सिद्ध करने पर तुल गए। बारह साल कुत्ते की दुम नलकी में रही, फिर भी सीधी न हुई, टेढ़ी ही निकली।

कभी नहीं सुधरेगा यह भारत। दुनिया जेट की रफ्तार से कहाँ की कहाँ पहुँच गई और ये, सो कॉल्ड इंडियंस, पिछड़े ही रहे। सरिता-जल न बन, पोखर का जल बने रहे, सड़ते रहे और है भगवान! आज तक सड़ रहे हैं, चिपके हुए है अपनी बेकार की मान्यता से। पतलून पहनने तक की तो तमीज़ भले न हो, पढ़ाएंगे कान्वेंट में, मन्दिर में बजाएँगे घण्टा और धोती पहन, ताली पटका गाएँगे "हैप्पी बर्थ डे टू यू" ईसाइयों के नववर्ष को अपना मानते हुए कहेंगे "हैप्पी न्यू ईयर"। अरे ऐसे ही धर्म-चिपकू है तो हैप्पी राम नवमी बोलो। "गुड़ खाएँ और गुलगुलों से परहेज़" बुद्धि-शत्रु कहीं के—इस प्रकार के विचारों में डूबता उतरता मैं कल यकायक एक साल पहले की स्मृति में पहुँच गया। मेरे मानस-पटल पर एक (यथार्थ) स्मृति की फिल्म शुरू हो गई।

सिडनी का सर्कुलर क्वे स्टेशन, जहाँ फरवरी 2009 की दूसरी तारीख को एक बैंच पर बैठा हुआ मैं सिडनी सहित, सागर की सुषमा निहार रहा था। एक आस्ट्रेलियन, गोरा चिट्ठा, लाल किनारी की, खादी की झकाझक श्वेत धोती, कुर्ता, चप्पल पहनें, कंधे पर कपड़े का थैला लटकाए, तिलक धारण किए हुए, आया और मेरे बराबर की खाली सीट पर बैठ गया। हेय समझी जाने वाली ऐसी वेशभूषा को तिरस्कृत कर, पेंट जींस पहनने वाला, मैं, उसकी वेशभूषा से बहुत ही आकर्षित हुआ। मन मोहित हो गया। फैशन की उस दुनिया में, ऐसे व्यक्ति को देखकर बड़ी खुशी हुई। वह मुस्कराया, दाँत मोती से चमक उठे, बोला, "आप भारतीय हैं ना, मुख मुद्रा तो ऐसी ही लगती है।" उसकी हिन्दी सुनकर मैं मुग्ध हो गया। "जी हाँ मैं भारतीय हूँ।" "आपका शुभ नाम?" "विद्याभूषण भारद्वाज।" "ब्राह्मण हैं?" मैंने गर्व से कहा, "जी हाँ मैं ब्राह्मण हूँ, यहाँ मेरा पुत्र सेवारत है।"

मेरे सिर की ओर इशारा करते हुए बोला, "आपके सिर पर चोटी...? यज्ञोपवीत भी नहीं धारण करते? अपने धर्म का पालन नहीं करते?" मैं हतप्रभ, "जी, चोटी तो नहीं, यज्ञोपवीत पहन लेता हूँ, किसी को दिखाई

जो नहीं पड़ता।" "आप डरते हैं चोटी और यज्ञोपवीत से?" मुझे मौन देखकर वे बोले, "मैं वृंदावन में रहता हूँ, अपनी जायदाद की देखभाल के लिए मैं यदा-कदा सिडनी आता रहता हूँ।" उसने अपने घर का पता दिया!, कहा, "महीना भर हूँ यहाँ, पधारिएगा कभी।" मैं थूक निगलता रहा और हीन भावना से ग्रस्त मैं उनसे बातें करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था, इसलिए खड़ा हुआ हाथ उठाकर मैंने "बाय" कहा, उन्होंने उत्तर दिया, "प्रणाम, आइएगा कभी।"

मैं सागर-सुषमा, सैर करने वाले देश-विदेश के नर-नारियों, बाल बच्चों, बड़े-बूढ़ों को देखना भूलकर, भिन्न-भिन्न विचारों में खोया हुआ समुद्र-किनारे चलता रहा और मन में यकायक एक विचार उत्पन्न हुआ कि आस्ट्रेलिया कितना एडवांस्ड देश है और सिडनी का तो कुछ पूछो ही मत, एक दम अद्भुत, अवर्णनीय, यहाँ भी ऐसे-ऐसे पिछड़े लोग हैं जिन्हें सिडनी सुषमा के सामने भारत की गन्दगी इतनी मन मोहिनी लगी कि अपना सब कुछ छोड़ श्रीकृष्णामृत पान करने में ही अपना अहोभाग्य समझा। फिल्म सीन कट, फिर वापस भारत में—अब मन ने कहा, "नहीं मेरा भारत महान् है। यहाँ के लोकतंत्र की कोई तुलना नहीं, यहाँ की न्याय प्रियता, यहाँ की धर्म निरपेक्षता, यहाँ की ईमानदार लीडरी-सब अद्भुत, सब चमत्कारी। मेरे देश की प्रगतिशीलता अप्रतिम, पिछड़ेपन को यहाँ बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। यहाँ सर्व धर्म समभाव है, सांप्रदायिकता के नाम पर फन उठने से पहले ही कुचल देने का घोर प्रयास किया जाता है। चोटी, धोती, तिलक, जयश्रीरामः सबके सब सांप्रदायिकता के राक्षस हैं, इसका संहार किया ही जाना चाहिए—की भावना बलवती होती जा रही है, सांप्रदायिकता की व्याख्या यहाँ कुछ पार्टियों के कोशानुसार ही मान्य है, उन्होंने कहा कि यह सांप्रदायिक है, सभी को इसे स्वीकार करना पड़ेगा। यहाँ "तिलक तराजू और तलवार" नारा सांप्रदायिकता की सीमा में नहीं आता क्योंकि बुद्धि-हीन जनमानस इन तीनों शब्दों का लक्षणार्थ नहीं समझ सकता फलतः सांप्रदायिकता फैलने का कोई भय नहीं, इसके अतिरिक्त यह आरक्षित भी है, कानूनन इसे कुछ नहीं कहा जा सकता, अल्पसंख्यकों सहित यह दंड-प्रावधान से मुक्त है। हमारे महान् भारत में यदि कोई सांप्रदायिक है तो वह चोटी, तिलक, धोती, जयश्रीराम हैं, ऐसा कहने में मुझे कोई संकोच नहीं। अस्तु!

आदरणीय फादर ने इस राक्षस के संहार हेतु जो एक प्रयत्न किया है, वह स्तुत्य है। अतः हे टी.वी. वालों सांप्रदायिकता के बहाने इस देश की दबी ढकी इज्जत की बखिया मत उधेड़ो।

•

अयोध्या-विवाद

मैं समझता हूँ, अयोध्या-विवाद कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसका कोई हल न हो। हल इसलिए कठिन लग रहा है कि इसे सुलझाने की मानसिकता ही नहीं है। दोनों ओर के कुछ गिने-चुने लोग इस पहेली को सुलझने नहीं देते। उन लोगों के लिए पहले अपना अहम् है बाद में मन्दिर-मस्जिद। पहले तो ऐसे लोग, इस विवाद-ढेर में दिया सलाई लगाकर इसे फूँक मार-मारकर सुलगाते रहे, आग धीरे-धीरे सुलगाती रही, धुआँ उठता रहा, उठता रहा और जब सब्र न हुआ तो उस पर पेट्रोल उड़ेल दिया। आग भड़क उठी और अग्नि ने अपना धर्म निभाया। आग धधक रही है, 'टाइम इज द बेस्ट हीलर' के अनुसार घाव भरने भी लगता है तो अयोध्या कांड की बरसी कर, उस घाव को और खुरच देते हैं, उसे फिर हराकर देते हैं।

इसमें उन नेता लोगों का विशेष हाथ है, जिन्हें कुर्सी चाहिए, बस कुर्सी—कुर्सी ही उनका ईमान, कुर्सी ही उनका धर्म—"सर्वेगुणा कुर्सी-आश्रयन्ते।" दोनों ओर का जनसाधारण, इसे पारिवारिक झगड़ा मानकर सुलझा सकने की सामर्थ्य से बाहर हो चुका है, फैसले के हक़ पर कुछ गिने-चुने लोग काबिज हो चुके हैं। बात सुनी जाएगी, बात समझ में आ जाएगी तो अपने-अपने ठेकेदारों की। जनता तो बेचारी भेड़ है, भेड़ के रेवड़ का मालिक भेड़-रेवड़ को जिधर हाँकेगा, रेवड़, उधर ही चल देगा। आप सभी जानते हैं, भेड़ के स्वभाव को, सब एक-दूसरे के पीछे आँखें बन्द किए चलती रहती हैं, उन्हें सामने का कुछ दिखाई नहीं देता, सिर्फ अपने आगे चलती हुई भेड़ों की थोड़ी सी पीठ नजर आती है—इसी को आधार मान "भेड़ाचाल' मुहावरा बना।

मैं तीन सत्य कथाओं का उल्लेख कर रहा हूँ, कदाचित् ये इस पर कुछ रोशनी डाल सकें।

चार बताशे : शाही इमाम के नाम

सन् 1929। उ.प्र. के जिला हरदोई के शाहबाद तहसील का एक ग्राम-पिहानी, खाली पड़ी हुई मुसलमानों की एक जमीन, मुसलमानों ने वहाँ एक मस्जिद बनाना तय किया। पिहानी के एक धनाढ्य थे सतीशचन्द्र। उन्होंने एक रात वहाँ एक चबूतरा बनवाकर, उस पर शिवलिंग की स्थापना कर दी। सुबह मुसलमानों को इसका पता चला। पिहानी के मुसलमानों के दिलों में आग भड़कना स्वाभाविक था। धर्म, ईमान के मामलों में कोई नफा-नुकसान नहीं देखा जाता, इस पर मर मिटना, साधारण सी बात है, दुनिया का इतिहास उसका साक्षी है। प्रतिहिंसा की आग भड़क उठी—"इस तरह की गुंडागर्दी हम बर्दाश्त नहीं करेंगे, मारेंगे, मिट जाएँगे, पर इसे हरगिज बर्दाश्त नहीं करेंगे।" आदि-आदि आवाजों से आकाश गूँज उठा। कुछ उकसाने लगे, जंग की तैयारी होने लगी—चाकू, छुरी, ईंट, पत्थर, गोली बन्दूक इकट्ठी की जाने लगी। इस सब वातावरण के कुछ ठेकेदार बन गए, उनके पीछे बाकी सब लोग लग गये। ये ठेकेदार मिलकर मौलवी साहब के पास पहुँचे और एक स्वर में बोले, "इजाजत दीजिए मौलवी साहब, हम सब कुर्बान होने के लिए तैयार हैं।" मौलवी साहब, नाराज होते हुए बोले, "करो जो तुम्हारी मर्जी, मेरी बात तो तुम लौंडे लोग मानोगे नहीं।" कहते-कहते मौलवी साहब की आँखें डबडबा आई, वे आगे बोले, "हे अल्लाह, मुझे उठा ले, अब यह मुझसे नहीं देखा जाएगा, चले जाइए आप लोग, जो मन में आए कर लीजिए, मैं कौन होता हूँ, क्या लगता हूँ आप लोगों का?" कहकर मौलवी साहब अन्दर चले गए और कमरा बन्द कर लिया।

उन ठेकेदारों ने मिलकर तय किया कि मौलवी साहब के हुकुम की तामील होनी चाहिए। उन्होंने मौलवी साहब के कमरे का दरवाजा खटखटाया और बोले, "मौलवी साहब दरवाजा खोलिए, हम सब आपके हुकुम की तामील करेंगे, जो आप कहेंगे।" मौलवी साहब ने दरवाजा खोला, और बोले, "देखो, हम लड़ेंगे, जरूर लड़ेंगे, सतीशचन्द्र की नाइंसाफी को बिलकुल बर्दाश्त नहीं करेंगे, हम कानून की लड़ाई लड़ेंगे, पर कानून अपने हाथ में नहीं लेंगे। आप लोगों को मंजूर हो तो सब मेरे ऊपर छोड़ दीजिए, अपने घर जाइए और मुझे वह करने दीजिए जो मैं चाहता हूँ।" सबने एक साथ कहा, "हमें मंजूर है, जो आप करेंगे, उसे

हम सब मानेंगे, हमारा यकीन कीजिए।" मौलवी साहब ने कहा, "देखो, मैं तुम्हारे साथ हूँ, पर करोगे तुम लोग वही, जो मैं चाहूँगा। तुम लोग अभी लौंडे हो, दूर तक का नहीं दिखाई देता तुम्हें। तुम्हारे बताए रास्ते पर चलने से पता है क्या होगा, दोनों तरफ के, सौ पचास आदमी हलाक हो जाएँगे। बेकसूर लोग मारे जाएँगे और हासिल कुछ नहीं होगा। मैं आपसे पूछता हूँ कि एक जमीन के टुकड़े की इतनी बड़ी कीमत है कि वह सैकड़ों लोगों की जान से भी ज्यादा कीमती हो गई? मैं कह चुका हूँ कि आप यकीन रखिए, हम लड़ेंगे, पर कानून अपने हाथ में नहीं लेंगे, अब आप लोग जाइए और मुझे अपना काम करने दीजिए।" सब मुसलमान सन्तुष्ट हो चले गए। मौलवी साहब ने सतीशचन्द्र को कहलवाया कि हमने यहाँ मस्जिद बनवाने की सोची थी, तुमने उस पर मन्दिर बनवा लिया, चलो कोई बात नहीं, जैसे शंकर जी तुम्हारे वैसे हमारे। अब तुम प्रसाद के तौर पर, चार बताशे हमें भिजवा दो। हम उसे इस जमीन की कीमत मान लेंगे।" इस पर सतीश चन्द्र ने उत्तर दिया, "प्रसाद तो मैं भिजवा रहा था, लेकिन तुमने उसे इसकी कीमत समझा, तो मैं तुम्हें अब बताशे नहीं भिजवाऊँगा।"

इस पर मुसलमानों के मुखिया मौलवी साहब भड़क उठे, बोले, "तो सतीशचन्द्र जी अब कोर्ट में मुलाकात होगी। आप समझते हैं, यहाँ अंग्रेजों-का राज है, कोई कानून नहीं, गलत सोचते हैं। कानून तो हर जगह है, कोर्ट अपना काम करेगी। आप चाहते हैं कि हम लोग आपस में प्यार मोहब्बत से न रहें, तो ठीक है, इतनी मनमानी नहीं चलने दी जाएगी कि जिसकी लाठी, उसकी भैंस। नाइंसाफी तो हम कुबूल करेंगे ही नहीं। यह जमीन हमारी है, आपको पता है कि हम उस पर मस्जिद बनवाने की सोच रहे थे, आपने इस पर एक मन्दिर की नींव रख दी, आपकी इस भावना को मैं क्या कहूँ, यही कि आप पैसेवाले हैं, जो मन में आया कर लेंगे, हम तो इंसान हैं, इतनी मनमानी तो जानवर भी सहन नहीं करता, हम क्यूँ कर सहन करें? हम तो इंसानियत के नाते सोच रहे थे कि भाई-भाई आपस में न लड़ें, आप चाहते ही हैं कि हम लड़ें, तो लड़ेंगे, लेकिन कानून की लड़ाई लड़ेंगे। हमें भी अब देखना है कि कानून में कुछ ताकत है या नहीं। आपको हम कानून से ऊपर नहीं उठने देंगे, जैसी आपकी मर्जी।" कहकर मौलवी साहब चले गए।

मौलवी साहब ने तहसील न्यायालय में मुकदमा दायर कर दिया। एक हिन्दू जज ने फैसला हिन्दुओं के हक में दिया। मुस्लिम-नेता ने उसकी अपील जिला जज के यहाँ कर दी। फैसला मुसलमानों के हक में हुआ कि मन्दिर गिरा दिया जाए और जमीन मुसलमानों को सौंप दी जाए। फैसले के बाद मौलवी साहब ने सतीशचन्द्र से कहा, "अब तो चार बताशे हमें भिजवा दीजिए, हम मन्दिर बना रहने देंगे।" सतीश चन्द्र राजी नहीं हुए। उन्होंने हाईकोर्ट अपील की, सुप्रीम कोर्ट अपील की, अन्त में प्रीवी काउंसिल में अपील दायर की, वे हारते गए। हर हार पर, मौलवी साहब सतीश चन्द्र से वही बात दोहराते रहे। अन्त में प्रीवी काउंसिल से भी अपील खारिज हो गई तो मौलवी साहब ने कहा, "भैया सतीशचन्द्र! मैं आपसे हाथ जोड़कर अर्ज करता हूँ कि हमें चार बताशे भिजवा दीजिए, मन्दिर बना रहने दीजिए, हमारी दोस्ती और हिन्दू-मुस्लिम प्यार को कायम रहने दीजिए।"

पर सतीशचन्द्र को न जाने क्या चंडी चढ़ी थी, उन्हें न मानना था, नहीं माने। आस-पास के इलाके में यह बात आँधी की तरह फैल गई कि मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाई जाएगी। चारों ओर से आबाल-वृद्ध-नर-नारियों का सागर, यह कहते हुए उमड़ पड़ा कि देखें मन्दिर कैसे तोड़ा जाता है और मस्जिद बनती है? स्थिति की गम्भीरता देखते हुए एक प्रतिनिधि मंडल, तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन से मिला। लार्ड इरविन ने स्वयं उस जगह का दौरा किया और सम्राट जार्ज पंचम को सिफारिश भेजी कि हिन्दुओं की भावनाओं का जो तूफान मैंने यहाँ देखा है, उससे मैं यह आग्रह करता हूँ, आप प्रीवी काउंसिल के निर्णय को निरस्त कर हिन्दुओं के पक्ष में इसका फैसला दें। तब सम्राट ने मन्दिर न तोड़ने का आदेश दिया। मन्दिर पिहानी में आज भी विद्यमान है।

आदरणीय शाही इमाम साहब से मेरी प्रार्थना है कि इस सच्ची घटना की पुनरावृत्ति कर दें और पिहानी के मौलवी की भाँति उदार मना बनें। मैं इमाम साहब से एक प्रश्न पूछता हूँ, आप न्यायालय के फैसले को सहर्ष स्वीकार करेंगे। सम्भावना इस बात की भी है कि फैसला आपके खिलाफ हो। मान लीजिए, फैसला आपके विरुद्ध हो गया तो आपको इस पर कोई आपत्ति न रह जाएगी।

इसका अर्थ हुआ कि बाबरी मसजिद आपके लिए धार्मिक विवाद

न रहकर सम्पत्ति सम्बन्धी विवाद जैसा रह जाता है। दूसरी ओर हिन्दू, न्यायालय के फैसले को नहीं मानेंगे। उनके लिए यह धर्म, आस्था आदि का प्रश्न है। आप यदि एक व्यक्ति (न्यायालय) की बात बखुशी कुबूल कर सकते हैं तो करोड़ों हिन्दू भाइयों की बात मानने में आपको क्या आपत्ति है? मेरी आपसे करबद्ध प्रार्थना है कि आप अपने बहुसंख्यक भाइयों को उस सम्पत्ति को दान कर दीजिए। इतिहास में आपका मुख उजला हो जाएगा कि मुसलमानों के त्याग ने देश को बहुत बड़े विनाश से बचा लिया। मेरा दावा है कि भारत में फिर हिन्दू-मुस्लिम एकता व प्यार की एक अभूतपूर्व गंगा बहेगी। सच्चे मन और आत्मा से हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई की तरह रहेंगे। इमाम साहब, राम जन्मभूमि मन्दिर बनाने में एक ईंट उसकी नींव में रखकर तो देखिए, आपका नाम श्रीराम मन्दिर के साथ उसी आदर के साथ लिया जाया करेगा जैसा अमरनाथ की गुफा के साथ एक मुसलमान का लिया जाता है। मन्दिर के चढ़ावे का एक-तिहाई भाग, मस्जिद को भी जा सकेगा। हिन्दू तन, मन, धन से अपने मुसलमान भाइयों पर कुर्बान हो जाएगा। फिर कभी कहीं कोई साम्प्रदायिक दंगा इस देश में नहीं होगा, सब बड़े प्रेम से रहेंगे। और प्रेम की इस गंगा को भारत की धरती पर उतार लाने का श्रेय आपको होगा। यह बात बखूबी जानते हैं कि मन्दिर बन गया तो इस्लाम को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी।

कानपुर में मेस्टन रोड-मन्दिर : सरकार के नाम

बात 1922 की है। कानपुर में, स्टेशन रोड को चौड़ा करने की समस्या थी। सड़क के बीच में स्थित एक मन्दिर और एक मस्जिद, सड़क को चौड़ा करने में बाधक थी। अंग्रेज सरकार के सामने विकट समस्या थी! न मन्दिर गिरा सकते थे, न मस्जिद। दोनों में से एक का गिराया जाना आवश्यक था। हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़े हुए थे। उस समय के वायसराय लार्ड रीडिंग ने मौका मुआयना किया। पहले वे मन्दिर की ओर चले। सीढ़ियों पर ही उन्हें रोक दिया गया। पुजारियों ने कहा "आप विधर्मी हैं, हम आपको अन्दर नहीं जाने देंगे, यह हमारे धर्म का मामला है।" लार्ड रीडिंग बोले, "हमें सड़क चौड़ी करनी है, यहाँ से हम मन्दिर हटाना चाहते हैं, क्या परेशानी है आपको, कहीं और बना लो मन्दिर।" इस पर पुजारी बोला, 'मान्यवर! यह भगवान

का मन्दिर है, शुभ मुहूर्त निकालकर भूमि पूजन होता है, मन्दिर बन जाने पर उसमें मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है, फिर ये हमारे लिए मूर्तियाँ न रहकर भगवान हो जाती हैं।'' इसके पश्चात् लार्ड रीडिंग मस्जिद की ओर चले। वहाँ उनका स्वागत हुआ उन्हें किसी ने अन्दर जाने से नहीं रोका। उन्हें अच्छी खासी दावत दी गई। वायसराय ने तभी आदेश दिया कि मस्जिद गिरा दी जाए, मन्दिर ऐसा ही रहे, मस्जिद गिरा दी गई, मेस्टन रोड चौड़ी कर दी गई, मन्दिर वहाँ आज भी विद्यमान है।

हिन्दुओं के लिए भगवान मन्दिर में विराजमान हैं, मूर्तियों में निवास करते हैं। मुसलमान नहीं मानते कि खुदा मस्जिद में रहता है। वह तो सर्वव्यापी है, अलख निरंजन है और 'एक' है। मस्जिद तो वह पवित्र स्थल है जहाँ मुसलमान इकट्ठे होकर नमाज अता करते हैं, अल्लाह का स्मरण करते हैं। चलती ट्रेन में, सड़क के किनारे, किसी भी जगह नमाज, अता की जा सकती है और की जाती है। हिन्दुओं के लिए यह आस्था, निष्ठा, भावना का प्रश्न है। अतः सरकार को चाहिए कि वह ठंडे दिमाग से सोचे कि मन्दिर बनने में कोई खून खराबा नहीं होगा। हाँ मन्दिर न बनने पर हो सकता है। उ.प्र. के मुख्यमन्त्री को सलाह है कि वे हिटलर–मुसोलिनी आदि महानुभावों की वीरता का इतिहास उसके अन्तिम पृष्ठों तक पढ़े और समझ लें कि गोली-बन्दूक की आयु बहुत कम होती है।

सरकार में जरा अकल होती तो आडवानी की रथ-यात्रा का हौवा खड़ा न करती। शहरों में रोज रथ यात्राएँ, शोभा यात्राएँ, झाकियाँ निकलती रहती हैं, यह भी निकल जाती।

माँ का दूध : मुलायम सिंह के नाम

बात पुरानी है। मेरठ जिले के पश्चिमी छोर का एक गाँव। दो ग्रामीणों का चौपाल में बैठे हुए वार्तालाप।

पहला : "देख रे। तेरे जिनावर म्हारे खेत मैं घुस जात्ते हैं, ध्यान रहे फिर कदी, घुसे तो ठीक नहीं।"

दूसरा : घुस गए तो तू के कर लेगा?

पहला : घुसा के देख, चल जाग्गा पता।

दूसरा : अबे जा, जा, तू के चलाएगा पता, तुज्जैसे सैकड़ों लफंडी देक्खे हैं।

पहला : 'इबी बताता हूँ' कहकर उसने जमीन पर लाठी से कोई एक गज लम्बी चौड़ी लकीर खींचकर चतुर्भुज बनाया और बोला, "ले, ये रह्या म्हारा खेत, माँ का दूध पिया है तो घुसा के देख अपणे जिनावर।"

दूसरे ने जमीन पर अपनी लाठी, सरकाते हुए उसके बनाए चतुर्भुज में घुसा दी और बोला, "ये ले घुस ग्ये म्हारे जिनावर, कर इब के करै?" दोनों में लड़ाई शुरू हो गई और गाँव, दो खेमों में बँट गया और दसियों आदमी मौत के घाट उतर गए। एक ने कहा, "मैं मन्दिर बनाऊँगा," दूसरे ने कहा, "माँ का दूध पिया है तो बनाके देख। इस जन्म में तो क्या सात जन्मों में भी मन्दिर नहीं बनेगा। तू तो बेचता क्या है, तेरे शंकराचार्य तक को मैंने जेल में ठूँस दिया था। मैं इनका मसीहा हूँ।" इस पर दूसरा लाल पीला हो गया और दाँत पीसते हुए बोला, "अच्छा यह बात है, बेटा, राजी से कहता तो शायद मैं मान भी लेता, पर तू गुंडागर्दी दिखाकर मुझे रोकना चाहता है, अब तो मन्दिर बनके रहेगा।"

सरकार का गणित बहुत कमजोर है। वह यह हिसाब नहीं लगा सकती कि सेना-पुलिस के बल पर भड़की हुई आग पर कुछ शहरों में तो काबू पाया जा सकता है, यह आग सारे देश में, गाँव-गाँव में फैल गई तो क्या होगा? यदि ऐसा हो गया तो अल्पसंख्यकों को भारी विनाश झेलना पड़ेगा। आज तक के साम्प्रदायिक दंगों का लेखा जोखा देख लीजिए, अधिक नुकसान अल्प संख्यकों का ही हुआ है।

भोली-भाली निरीह जनता से मेरा निवेदन है कि आप यह बात अच्छी तरह समझ लें कि न तो इन इमामों का कुछ बिगड़ेगा, न शंकराचार्यों का, न सिंहलों शाहबुद्दीनों का कुछ बिगड़ेगा न आड़वानियों का और कुर्सीधारी नेताओं का तो कुछ बिगड़ेगा ही नहीं। गरीबों! बिगड़ेगा तुम्हारा ही। ये सब मौत के सौदागर हैं। मासूम छात्रों के आत्मदाह और पुलिस की गोली से मरने पर यह कह सकते हैं कि राजीव गांधी तो पाँच हजार सिक्खों के मरने के बाद भी कुर्सी पर डटा रहा, हमारी संख्या तो अभी कुछ भी नहीं हुई, उन शासकों को नरभक्षी कहना ज्यादा ठीक होगा।

आड़वाणी, सिंहल आदि से नम्र निवेदन है कि वे बाबरी मस्जिद के आसपास उससे भी बड़ा जमीन का एक टुकड़ा लें, मुसलमानों से बिना कोई सहायता लिए खुद फावड़ा चलाकर मस्जिद की नींव रखें सिंहल

आदि उसमें, 'अल्लाह हो अकबर' का उद्घोष कर नींव की ईंट रखें और बाबरी मस्जिद से भी महान् मस्जिद का निर्माण करें। फिर इकट्ठे होकर, मुसलमानों के बीच जाकर उन्हें समझाएँ कि भैया, तुम अपने ही तो थे कभी, फिर आकर अपने हो जाओ, गले मिलकर एक हो जाओ, यह लो तुम्हारी मस्जिद।

हम छोटे बाप के बन जाने को तैयार हैं, खत्म करो यह झगड़ा और सभी मिलकर नाचें-गाएँ, मौजमस्ती मनाएँ। इसके लिए आपके पास धन की कमी नहीं है, इस विवाद में जितने जन धन की आहुति आप लोगों ने दी है, उसके शतमांश में ही अनेक बाबरी मस्जिदें बन जाएँगी। देवी माँ से प्रार्थना है कि महिषासुर मर्दनी इन स्वयंभू नेताओं की जिह्वा पर बैठे राक्षस का संहार करें।

(संक्षिप्त अंश जनसत्ता में प्रकाशित हुआ)

आज इस मसले को लेकर हिन्दू-मुस्लिम दोनों कोर्ट की शरण चले गए हैं, दोनों की बुद्धि पर तरस आता है। मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि कोर्ट का फैसला हिन्दुस्तान की धरती में पड़ा हुआ ऐसा विष-बीज सिद्ध होगा जो प्रलय पर्यंत विष के वृक्ष पर वृक्ष, पैदा करता चला जाएगा, एक बीज से अनेक बीज पैदा होते रहेंगे। मुसलमानों को इस पर विचार करना चाहिए कि हिन्दू के लिए जो महत्व अयोध्या का है, मुसलमान के लिए क्या वही महत्व बाबरी मस्जिद का है? कोर्ट का फैसला किसी के भी हक में हो, वह एक थोपा हुआ फैसला होगा और थोपा हुआ फैसला कभी सामंजस्य नहीं देगा, भीतर की आग यूँ ही दहकती रहेगी, जलाती रहेगी–दोनों को ही। यह भी स्वाभाविक है कि अयोध्या के बाद हिन्दू की नजर मथुरा आदि के मन्दिरों पर पड़ेगी। प्रसन्न वदन मुसलमान यदि स्वयं अयोध्या को सौंप दे तो इसकी काफी सम्भावना है कि हिन्दू भावना के वशीभूत शेष मन्दिरों के मसले को न उठाए, पर हिन्दू मुस्लिम, दोनों जातियों के स्वयंभू ठेकेदार क्या ऐसा होने देंगे?

●

डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज

जन्म– 19 जनवरी, 1928, ग्राम डालमपुर (मेरठ) उ. प्र.

शिक्षा– पी-एच. डी. मेरठ कॉलेज, मेरठ।

1947 में प्रायबेटली प्रभाकर, 1949 में साहित्य रत्न।

अध्यापनानुभव– 1974 से स्थायी रूप से महामना मालवीय महाविद्यालय खेकड़ा (मेरठ) में हिन्दी प्रवक्ता के पद पर कार्य करते हुए 1992 में असोसिएट प्रफेसर पद से सेवा निवृत्त।

पुरस्कार– छुट-पुट पुरस्कारों के अतिरिक्त, कोई उल्लेखनीय पुरस्कार नहीं झटक सका।

सर्वप्रिय पुरस्कार–जीवन में प्राप्त पुरस्कारों में, मेरा सर्वप्रिय पुरस्कार चवन्नी का वह पुरस्कार है जो दौरे पर आए एस. डी. आई. ने मुझ सात वर्ष के बालक को अपनी गोदी में उठाकर दिया था, वह मेरे मानस पटल पर आज तक एज़ इट इज़ उत्कीर्णित है।

प्रकाशित रचनाएँ–कहानी संग्रह– उतरन

उपन्यास– सनकी शास्त्री (सद्यः प्रकाशित)

हास्य-व्यंग्य– ततैया

स्मृति शिलालेख–क्यूँ भूलूँ– मेरे बचपन के संस्मरण

शोध ग्रंथ– आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों में इतिहास का चित्रण।

अनुवाद– अंग्रेजी से हिन्दी– मार्शल गोविंदन सच्चिदानन्द द्वारा लिखित

1. Kriya Yoga Sutras of Patanjali and the Siddhas का ''पतंजलि के योग सूत्र व अन्य महर्षि'',
2. Babaji and the 18 Siddh KriyaYoga Tradition का ''बाबाजी व 18 महर्षियों की क्रिया योग परंपरा'',
3. How I become the disciple of Babaji 'में बाबाजी का भक्त कैसे बना''

₹ 200/- $20

ISBN 81-8129-440-8
9788181294401

4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002
दूरभाष : 23247003, 23254306
Fax No. 011-23254306